ऋग्वेदपरिचय

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

ऋग्वेदपरिचय

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

प्रकाशकीय

श्री माननीय पं० विश्वनाथ जी विद्यालंकार विद्यामार्तण्ड लिखित ऋग्वेद-परिचय रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से हम प्रकाशित कर रहे हैं। ऋग्वेद एक महान् ग्रन्थ है। इस में १०५५२, चतुष्पदा पक्ष में १०४८२ ऋचायें हैं। इस के पूर्ण परिचय के लिये बृहद् ग्रन्थ अपेक्षित है। माननीय ग्रन्थकार ने साधारण जनों को ऋग्वेद का परिचय कराने के लिये यह लघुकाय ग्रन्थ लिखा है।

श्री माननीय पण्डित जी का वयः (आयु) लगभग ९६ वर्ष है। दृष्टि मन्द हो गई है, हाथ में कम्पन भी है, पुनरपि आप वेदरूपी दिव्य सरस्वती की आराधना में सर्वात्मना संलग्न हैं। मैं समझता हूं यह सरस्वती की आराधना के कारण सरस्वती का विशेष वरदान है। आपने अथर्ववेद के भाष्य का लेखन जब प्रारम्भ किया था, तब आशा न्यून थी कि आप इस कार्य को पूर्ण कर पायेंगे। परन्तु परम पिता परमात्मा की कृपा से आप इस कार्य की समाप्ति के निकट पहुंच चुके हैं। २० वें काण्ड से भाष्यलेखन आरम्भ करके आप ७वें काण्ड तक भाष्य पूर्ण कर चुके हैं। इन में ९--२० तक का भाष्य दानवीर वेद और वैदिकधर्म में अनन्य श्रद्धावान् चौ० प्रतापसिंह जी (करनाल) के द्वारा उन के "श्री चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट (करनाल)" की ओर से छप गया था। काण्ड ११-२० तक का भाष्य उन के जीवन काल में छप गया था। इस ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले समस्त वैदिक ग्रन्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट (बहालगढ़--सोनीपत) के प्रेस में ही छपते हैं और इसी के द्वारा बिकते हैं। गतवर्ष अचानक श्री चौ० प्रतापसिंह जी के स्वर्गवास के कारण अथर्ववेद के ९-१० काण्ड के भाष्य के प्रकाशन की समस्या उत्पन्न हो गई थी, परन्तु हमने जैसे-तैसे ९-१० काण्ड का भाष्य श्री चौ० प्रतापसिंह जी ट्रस्ट के द्वारा ही प्रकाशित कर दिया। उत्तराधिकारी महानुभावों ने इस की छपाई के लिये द्रव्य की कोई व्यवस्था नहीं की थी। आगे भी आशा न्यून ही है। अब काण्ड ७-८

के प्रकाशन की हमारे सामने महती समस्या है। साधन सीमित होने से रामलाल कपूर ट्रस्ट इस भार को वहन करने में अक्षम है। फिर भी हम यथासम्भव शीघ्र ही काण्ड ७-८ को प्रकाशित करने का यत्न करेंगे। श्री माननीय पण्डित जी जब इस वय में भी अथर्ववेदभाष्य पूर्ण करने में संलग्न हैं तो वेदप्रेमी ऋषिभक्त आर्यजनों का भी यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वे इस शुभ कार्य की पूर्ति में धन से सहयोग प्रदान करें।

ऋग्वेदपरिचय के लिखाने का श्रेय श्री पं० मनोहर जी वेदालंकार (देहली) को है। आपने इस ग्रन्थ को लिखने में श्री पण्डित जी को पूरा सहयोग प्रदान किया।

प्रकाशन में सहायता—ऋग्वेदपरिचय के लेखन के पश्चात् इसके प्रकाशन की समस्या हमारे सामने उपस्थित हुई। इस समस्या को भी **श्री पं० मनोहर विद्यालंकार (श्री राधेश्याम अरोड़ा) ने अपनी बुआ श्रीमती जानकी देवी, पत्नी श्री दामोदर दास चावला की स्मृति में इस ग्रन्थ के कागज का मूल्य २७२६/- रुपया देकर सुलझा दिया।** इस महान् सहयोग के लिये हम श्री पं० मनोहर जी विद्यालंकार के आभारी हैं।

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत)

युधिष्ठिर मीमांसक
प्रधान—रामलाल कपूर ट्रस्ट

ग्रन्थकार का संक्षिप्त परिचय

तथा

अन्य कृतियां

प्रोफेसर विश्वनाथ जी गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय हरिद्वार के सुप्रसिद्ध स्नातक हैं। आप विश्वविद्यालय की "विद्यालंकार" उपाधि तथा "विद्यामार्तण्ड" मानोपाधि से विभूषित हैं। सन् १९१४ के दीक्षान्त-समारोह में प्रथम-विभाग में आप सर्वप्रथम रहे। वैदिक, साहित्य, संस्कृत साहित्य, दर्शनशास्त्र और रसायनशास्त्र (कैमिस्ट्री) तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आपको ४ सुवर्णपदक और १ रजतपदक प्राप्त हुए। आप सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त किये गए। गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय में समय-समय पर आप रसायन, दर्शन तथा वैदिक साहित्य पढ़ाते रहे, और सन् १९४२ में वहां से सेवामुक्त हुए।

ग्रन्थकार की अन्य कृतियां—

१. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य।
२. सन्ध्यारहस्य।
३. वैदिक पशुयज्ञमीमांसा।
४. वैदिक जीवन।
५. वैदिक गृहस्थाश्रम।
६. बाल सत्यार्थप्रकाश।
७. ऋग्वेदभाष्यभूमिका का सरल अध्ययन।
८. अथर्ववेदपरिचय।
९. अथर्ववेदभाष्य काण्ड ९-१०। ११-१२-१३। १४-१५-१६-१७। १८-१९। तथा २० (पांच खण्डों में)।
१०. यजुर्वेदस्वाध्याय तथा पशुयज्ञसमीक्षा।
११. शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा।
१२. ऋग्वेदपरिचय।

प्रकाशक

भूमिका

ऋग्वेद के उपलभ्यमान दो भेद हैं, शाकल संहिता और बाष्कल संहिता। शाकलसंहिता मण्डलों और सूक्तों में विभक्त है, और बाष्कल संहिता अष्टकों अध्यायों और वर्गों में। शाकल संहिता १० मण्डलों में विभक्त है, और बाष्कल संहिता ८ अष्टकों में विभक्त है। १० मण्डलों में विभक्त शाकल संहिता अधिक प्रामाणिक है। निरुक्त में "तदेतदृभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति" (२१।२।१६) के अनुसार "दशतयीषु" द्वारा दशावयवात्मक अर्थात् दशमण्डलात्मक शाकल संहिता का निर्देश हुआ है। तथा शाकल संहिता में वालखिल्य सूक्त परिगणित नहीं होते और बाष्कल संहिता में परिगणित होते हैं। वालखिल्य सूक्त ११ हैं, जिनकी मन्त्र संख्या ८० है। वालखिल्य सूक्त अष्टक ६, अध्याय ४ में, या मण्डल ८, सूक्त ४९ से ५९ रूप में हैं। ऋग्वेद के कुल मन्त्र, वालखिल्य सहित १०५५२, और वालखिल्य रहित १०४७२ हैं। मण्डलानुसार ऋग्वेद की सूक्तसंख्या १०१७ है। अष्टकानुसार सूक्त संख्या १०१७+११=१०२८ है। ८ अष्टकों के कुल वर्ग २०२४ हैं[१]। प्रतिवर्ग में प्रायः पांच मन्त्र होते हैं।

ऋग्वेद महाकाय है। इसमें नानाविध विषयों का वर्णन विस्तारपूर्वक हुआ है। "ऋग्वेदपरिचय" में कतिपय विषयों का ही निर्देश किया है। परिचय में मन्त्र यथासम्भव मण्डलक्रमानुसार दिये गए हैं।

"ऋग्वेदपरिचय" श्री पं० मनोहर जी विद्यालंकार ५२२; ईश्वर भवन, खारी बावली, दिल्ली-६ की प्रेरणा द्वारा लिखा है। श्री मनोहर जी वैदिक साहित्य के प्रेमी, तथा वेदस्वाध्यायी हैं। परिचय के लेखन के सम्बन्ध में उचित साहित्य के संग्रह में आपके लगभग ७०० रु० व्यय हुए हैं। आप वेदों के सुयोग्य विद्वान् हैं।

विश्वनाथ

६१ कांवली रोड, देहरादून

---

१. ये संख्याएं पं० सातवलेकर द्वारा सम्पादित ऋग्वेद-संहिता के आधार पर दी हैं।

सूचीपत्र

ओ३म्

ऋग्वेदपरिचय

परमेश्वर, उसके गुण-कर्म

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
१।१६४।३९॥

(ऋचः) ऋक्-प्रतिपाद्य (यस्मिन् अधि) जिस (अक्षरे) विनाश रहित (परमे व्योमन्) परम रक्षक ब्रह्म में (विश्वे देवाः) सब सूर्य-चन्द्र तथा नक्षत्र-तारागण आदि देव (निषेदुः) स्थित हैं, (यः) जो (तत् न, वेद) उसे नहीं जानता वह (ऋचा) ऋक् द्वारा (किं करिष्यति) क्या करेगा [उसका ऋक्-स्वाध्याय व्यर्थ है], (ये इत्) जो ही (तत्) उस ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं, (ते इमे) वे ये वेत्ता (समासते) सम्यक्-स्थिति सम्पन्न होते हैं।[1]

---

१. ऋग्वेद के इस मन्त्र द्वारा स्पष्ट है कि ऋग्वेद का प्रतिपाद्य है—परम रक्षक ब्रह्म। ब्रह्म का प्रतिपादन ऋग्वेद के मन्त्रों में साक्षात् भी पर्याप्त हुआ है, और परम्परया भी। साक्षात् प्रतिपादन के कतिपय मन्त्र "ऋग्वेद परिचय" में दिये हैं। तथा "यस्मिन् देवाः अधि विश्वे निषेदुः" द्वारा सब सूर्यादि देवों की स्थिति ब्रह्म में दर्शाई है, इन देवों के वर्णन के पढ़ने में इनकी स्थिति के आधारभूत परमेश्वर का भी साथ-साथ ध्यान रखना चाहिये, यह भी मन्त्र में सूचित कर दिया है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित लेख महत्त्व का है। यथा "सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति। तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्वं उपदेशाः सन्ति"। तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादित-मस्ति, क्वचित् साक्षात्, क्वचित् परम्परया च। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मै-वास्ति" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचारः, दयानन्द)।

[व्योमन्=वि+अव् (रक्षणे) + मनिन्, सप्तम्येकवचन। ऋक्=ऋग्वेद अथवा चतुर्वेदों का ऋक्-समूह]।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥१।१६४।४६

(अग्निम्) इस अग्नि का, (एकम्) अर्थात् एक (सत्) महान् आत्मा का, (विप्राः) मेधावी लोग, (बहुधा) बहुत नामों से (वदन्ति) कथन करते हैं (अग्निम्, यमम्, मातरिश्वानम्) अर्थात् अग्नि, यम, और मातरिश्वा द्वारा। तथा उसे (इन्द्रम्, मित्रम्, वरुणम्) इन्द्र, मित्र और वरुण (आहुः) कहते हैं। (अथो) तथा (सः) वह (दिव्यः सुपर्णः) दिव्य सुपर्ण है (गरुत्मान्) और गुर्वात्मा या महानात्मा है।

[अग्निः पद की व्याख्या में निरुक्त के आधार पर अर्थ दिया है (निरुक्त ७।५।१८)। मन्त्र में "अग्निम्" पद दो बार पठित है, उद्देश—विधेय रूप में]।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ १।२२।१९॥

हे मनुष्यो! (विष्णोः) सर्वव्यापक परमेश्वर के (कर्माणि) कर्मों को (पश्यत) देखो, (यतः) जिन कर्मों से (व्रतानि) तुम्हारे लिए व्रतों अर्थात् कर्तव्य कर्मों को (पस्पशे) विष्णु ने दर्शाया है, (इन्द्रस्य) जो विष्णु कि जीवात्मा का (युज्यः) योग्य, समुचित, वास्तविक (सखा) मित्रभूत है।

[जगत् में परमेश्वर के कर्म हैं—न्याय, सत्य, परोपकार आदि। इन्हें देखकर हमें तदनुसार निजव्रतों का निश्चय करना चाहिए। परमेश्वर जीवात्माओं का योग्य सखा है। पस्पशे=स्पश् वैदिक धातु है, दर्शनार्थक, या स्पृश बन्धने। परमेश्वर सखा है जीवात्मा का, यथा—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (ऋ० १।१६४।२०)। परन्तु योग्य सखा बनने के लिये जीवात्मा को निजव्रत, परमेश्वरीय कर्मों के अनुसारी निश्चित करने चाहियें]।

समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया ॥१।२९।५॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (गर्दभम्) उस गदहे को (सम्, मृण) [1]सम्यक् प्रकार से नष्ट कर दे, जो कि (अमुया पापया) उस दुराचारिणी स्त्री के साथ प्रसंग करता हुआ (नुवन्तम्[2]) पापकर्म की स्तुति भी करता है, प्रशंसा भी करता है।

[दुराचारी को गर्दभ कहा है, जबकि वह दुराचारी होता हुआ, दुराचार की प्रशंसा भी करे]।

यस्य द्यावापृथिवी पौंस्यं महद्यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः ।
यस्येन्द्रस्य सिन्धवः सश्चति व्रतं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥
१।१०१।३॥

(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (यस्य) जिस (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर के (महत् पौंस्यम्) महाबल के [प्रदर्शक हैं], (यस्य व्रते) जिसके नियत किये व्रत में (वरुणः) अन्तरिक्ष का आवरण करने वाला मेघ, तथा (यस्य) जिसके व्रत में (सूर्यः) सूर्य (सश्चति) गति करता है। (यस्य) जिस के नियत किये व्रत में (सिन्धवः) नदियां (व्रतम् सश्चति=सश्चन्ति) व्रतानुसार प्रवाहित हो रही हैं, उस (मरुत्वन्तम्) मरुतों के स्वामी को (सख्याय) मैत्री के लिये (हवामहे) हम प्रार्थित करते हैं।

[सश्चति गतिकर्मा (निघं २।१४)। मरुत्वन्तम्=मरुतः अन्तरिक्षव्यापी वायुएं, तथा प्राणापान, व्यान, समान, उदान वायुएं तथा मानसून वायुएं हैं]।

अयं मातायं पितायं जीवातुरागमत् ।
इदं तव प्रसर्पणं सुबन्धवेहि निरिहि ॥१०।६०।७॥

(अयम्) यह परमेश्वर (माता) माता है, (अयम्) यह (पिता) पिता है, (अयम्) यह (जीवातुः) जीवनप्रदाता है, (आगमत्) हमें

---

१. उसके पापकर्म के अनुरूप कष्ट देकर मारना।
२. णु स्तुतौ (अदादिः)।

यह प्राप्त हुआ है। हे परमेश्वर ! (इदम् प्रसर्पणम्) यह चलता-फिरता शरीर (तव) तेरा है, तेरे प्रति समर्पित है। (सुबन्धो) हे उत्तम-बन्धु ! (एहि) आ, (निरिहि) और प्रकट हो।

[निरिहि=निर्+इहि, निर्गच्छ; इस शरीर या हृदय से निकल, प्रकट हो। परमेश्वर शरीर या हृदय में छिपा हुआ है। उसके प्रकट होने की अभिलाषा मन्त्र में प्रकट की गई है]।

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति नो हर्य
तद् वचः ॥ १।५७।४॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (ते, इमे, वयम्) तेरे हम ये हैं; (पुरुष्टुत) हे हम द्वारा बहुस्तुत ! (प्रभूवसो) तथा हे प्रभूत सम्पत्ति वाले ! (ये) जो हम (त्वारभ्य) तेरा अवलम्ब लेकर (चरामसि) विचरते हैं। (गिर्वणः) हे वाणियों द्वारा भजनीय ! (त्वत् अन्यः) तुझ से भिन्न (गिरः) स्तुति-वाणियों को (नहि) नहीं कोई (सघत्) प्राप्त होता, इसलिये (नः) हमारे (प्रति) प्रति (तत् वचः) उस स्तुतिवचन की (हर्य) कामना कर, उसे चाह, (इव) जैसे कि (क्षोणीः) पृथिवीपति [निज प्रजाजनों की स्तुति वाणी की कामना करते हैं]।

[परमेश्वर से भिन्न हमारा कोई अवलम्ब अर्थात् सहारा नहीं, अतः वही एक हमारी स्तुतियों का पात्र है, जैसे कि पृथिवीपति, प्रजाओं की स्तुतियों के पात्र होते हैं। क्षोणीः पद बहुवचनान्त क्षोणि-पतियों का उपलक्षक है। क्षोणिः पृथिवीनाम (निघं० १।१)]।

आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि।
न त्वावाँ इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यतेऽति विश्वं
ववक्षिथ ॥१।८१।५॥

(पार्थिवम्, रजः) पृथिवीलोक में (आ पप्रौ) तू भरपूर है, (दिवि) द्युलोक में (रोचना) रुचिकर नक्षत्र-तारात्रों को (बद्बधे) तूने बान्धा हुआ है। (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (न,

कश्चन, त्वावान्) न कोई तेरे जैसा है, (न जातः) न हुआ है, (न जनिष्यते) न होगा, (विश्वम्, अति) विश्व [की सीमा] को अतिक्रान्त किया हुआ तू (विश्वम् ववक्षिथ) विश्व का वहन अर्थात् संचालन किये हुआ है।

[रजः=लोका रजांस्युच्यन्ते (निरुक्त ४।३।१९)। ववक्षिथ= वहतेः साभ्यासस्य रूपम्। पप्रौ=प्रा पूरणे (अदादिः)]।

कुदा मर्तमराधसं पुदा क्षुम्पमिव स्फुरत्।
कुदा नः शुश्रवुद् गिर इन्द्रो अुङ्ग ॥१।८४।८॥

(इव) जैसे कोई (पदा) पैर द्वारा (क्षुम्पम्) खुम्ब को (स्फुरत्) अनायास उखेड़ फैंकता है, वैसे (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (अराधसम्) आराधनाहीन (मर्तम्) मनुष्य को (कदा) [न जाने] कब उखाड़ फैंके, तथा (कदा) कब (अङ्ग) फिर (इन्द्रः) इन्द्र (नः) हमारी (गिरः) प्रार्थनावाणियों को (शुश्रवत्) सुनेगा।

[अभिप्राय यह कि परमेश्वर की आराधना सदा करनी चाहिये ताकि वह हमारी प्रार्थनाओं को सफल करदे, जीवन का कोई भरोसा नहीं, न जाने मृत्यु कब आ घेरे। अङ्ग=क्षिप्रे च पुनरर्थे च संगमा-सूययोस्तथा। हर्षे सम्बोधने चैव ह्यंगशब्दः प्रयुज्यते।]।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास
इन्द्रः ॥२।१२।५॥

(यम्, घोरम्) जिस घोर के सम्बन्ध में (पृच्छन्ति स्म) पूछते हैं कि (कुह सः इति) कहां है वह [इन्द्र], (उत) तथा (एनम्, आहुः) इस के सम्बन्ध में कहते हैं कि (एषः) यह [इन्द्र], (न अस्ति इति) है ही नहीं। (सः) वह (अर्यः) स्वामी [इन्द्र] (पुष्टीः) परिपुष्ट सम्पत्तियों और प्रजाओं का (मिनाति) विनाश कर देता है, (इव) जैसे (विजः) विजेता अथवा भयप्रद सेनापति [पुष्टीः] परिपुष्ट पराजित सेनाओं की (मिनाति) हिंसा कर देता है। (जनासः) हे प्रजाजनो! (सः इन्द्रः) वह परमैश्वर्यवान् परमेश्वर है, (अस्मै) इसके प्रति (श्रत् धत्त) श्रद्धा करो, या यह सत्यस्वरूप है यह धारणा करो।

[परमेश्वर घोर है, कर्मफल प्रदान में किसी को क्षमा नहीं करता। परमेश्वर सर्वसाधारण को दृष्टिगोचर नहीं होता, इसलिये नास्तिक कहते हैं कि यह है ही नहीं। वे इन्द्र की शक्ति को पहचानते नहीं। इन्द्र तो परिपुष्ट सम्पत्तियों, प्रजाओं और शक्तियों को भी प्रलयकाल में विनष्ट कर देता है, जैसे कि विजेता, भय द्वारा संचालित कर देने वाला सेनापति, पराजित की हुई परिपुष्ट सेनाओं की हिंसा कर देता है। यह इन्द्र सत्यस्वरूप है ऐसी श्रद्धा या धारणा करनी चाहिये। विजः=वि+जि(जये)+डः (औणादिक प्रत्यय), अथवा ओविजी भयचलनयोः (रुधादिः, तुदादिः)। श्रत् सत्यनाम (निघं० ३।१०)]।

प्र स मि॑त्र॒ मर्तो॑ अस्तु॒ प्रय॑स्वा॒न्यस्त॑ आदित्य॒ शिक्ष॑ति व्र॒तेन॑।
न ह॑न्यते॒ न जी॑यते॒ त्वोतो॒ नैन॒मंहो॑ अश्नो॒त्यन्ति॑तो॒ न दू॒रात्॥

३।५९।२॥

(मित्र) हे स्नेही परमेश्वर! (आदित्य) हे आदित्यस्थ परमेश्वर! (यः) जो (मर्तः) मनुष्य (व्रतेन) व्रतपूर्वक अर्थात् नियम से (ते) तेरे प्रति (शिक्षति) आत्मदान अर्थात् आत्मसमर्पण करता है (सः) वह (प्रयस्वान् अस्तु) तेरी कृपा से सदा प्रयत्नवान् हो जाता है। (त्वोतः) तुझ द्वारा सुरक्षित वह (न हन्यते) पापों द्वारा मारा नहीं जाता, (न जीयते) न आयु से पूर्व वृद्ध होता है, (न एनम्) न इसे (अन्तितः) समीप से (न दूरात्) न दूर से (अंहः) पाप (अश्नोति) प्राप्त होता है।

[प्रयस्वान्[1]=प्र+यसु प्रयत्ने (दिवादिः)। आदित्य=हे आदित्यस्थ परमेश्वर! (यजु० ४०।१७)। शिक्षति दानकर्मा (निघं० ३।२०)। जीयते=ज्या वयोहानौ (क्र्यादिः)। परमेश्वर के प्रति जो आत्मसमर्पण कर देता है अर्थात् ईश्वरप्रणिधान का व्रत धारण करता है, वह स्वव्रत के परिपालन में प्रयत्नवान् रहता है और परमेश्वर द्वारा सुरक्षित हुआ, न समीप के और न दूर के कुसंगी द्वारा पाप को प्राप्त होता है]।

---

१. प्र+यसु (क्विप्, स्वार्थे)+मतुप्। अथवा "प्रयः अन्ननाम" (निघं० २।७)+मतुप्।

अग्ने कदा त आनुषग्भुवद् देवस्य चेतनम् ।
अधा हि त्वा जगृभ्रिरे मर्तासो विक्ष्वीड्यम् ॥४।७।२॥

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप जगदग्रणी परमेश्वर ! (ते देवस्य) तुझ देव का (चेतनम्) प्रज्ञापन (कदा) कब (आनुषक्) सदा हमारे साथ निरन्तर संसक्त (भुवत्) होगा। ताकि (अध=अथ) अनन्तर (विक्षु) प्रजाओं में (ईड्यम्) स्तुत्य (त्वा) तुझे (मर्तासः) मरण-धर्मा मनुष्य (हि) निश्चय से (जगृभ्रिरे) परिगृहीत कर लें, स्वीकृत कर लें, अपना लें।

[परमेश्वर ने वेदों द्वारा प्रज्ञान दिया है। व्यक्ति उससे शक्ति की प्रार्थना करते हैं कि वह प्रज्ञान हमारे जीवनों में सदा ससक्त रहे, और मरणधर्मा हम तुझे अपना सकें]।

ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः ।
विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे ॥४।७।३॥

(ऋतावानम्) सत्यस्वरूप, (विचेतसम्) विशिष्ट ज्ञानी परमेश्वर को (पश्यन्तः) साक्षात् हम देखें, (इव) जैसे (स्तृभिः) नक्षत्रों से युक्त (द्याम्) द्युलोक को हम देखते हैं, जो परमेश्वर कि (दमे दमे) घर-घर में होने वाले (विश्वेषाम्) सब (अध्वराणाम्) हिंसा-रहित यज्ञिय कर्मों का (हस्कर्तारम्) दिन के सदृश प्रकाशक है।

[हस्कर्त्तारम्=अहः कर्त्तारम्। "पश्यन्तः" भवेम]।

तं शश्वतीषु मातृषु वन आ वीतमाश्रितम् ।
चित्रं सन्तं गुहा हितं सुवेदं कूचिदर्थिनम् ॥४।७।६॥

(शश्वतीषु मातृषु) सदा प्रवहनशील नदियों [के संगम] में (वने) तथा वन में (आ वीतम्) विशेषतया जाने गये, (अश्रितम्) अनाश्रित अर्थात् स्वाश्रित, स्वयंसत्ताक, (चित्रम्) अद्भुत रूप (सन्तम्) सत्स्वरूप (गुहा) हृदय गुहा में (हितम्) निहित, (सुवेदम्) प्रत्यक्ष जाने गये (कूचित् अर्थिनम्) किसी-किसी उपासक द्वारा प्रार्थित हुए (तम्) उस परमेश्वर को (निषेदिरे) ध्यानी प्राप्त करते हैं।

[मातृषु=नदीषु—"मातरः नदीनाम" (निघं० १।१३)।

"मातृषु" में बहुवचन द्वारा "नाना नदियों का संगमप्रदेश" अर्थ द्योतित होता है। "वन" शान्त तथा सांसारिक नानाविध प्रलोभनों से रहित होते हैं, अतः ध्यान में सहकारी हैं। आवीतम् =वीतम्=गतम् (वेङ्कट माधव), वी="गति, व्याप्ति आदि" (अदादिः)। यहां "गति" अर्थ अभिप्रेत है। गति के ३ अर्थ होते हैं ज्ञान, गमन, प्राप्ति। "आवीतम्" में प्राप्त्यर्थ अभीष्ट है। परमेश्वर हृदयगुहाहित है अतः "सुवेद" है, सुगमता से इसका प्रत्यक्षज्ञान हो सकता है। मन्त्र में "निषेदिरे" का अध्याहार[1] मन्त्र ४।७।५ से होता है। "निषेदिरे"=नि +षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (भ्वादिः) षद्लृ का गति अर्थ अभिप्रेत हैं, अर्थात् "प्राप्ति" अर्थ। मन्त्र ४।७।१ में "धायि धातृभिः...वनेषु चित्रं विभ्वम्" द्वारा वनों में ध्याताओं द्वारा चित्र और विभु परमेश्वर के ध्यान का कथन किया है]।

नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्।
नकिरेवा यथा त्वम् ॥४।३०।१॥

(वृत्रहन्) पापवृत्र का हनन करने वाले (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर! (त्वत् उत्तरः) तेरे से उत्कृष्ट (नकिः) कोई नहीं, (न ज्यायान्) न अधिक आयु वाला (अस्ति) है। (नकिः) न कोई (एव) ही है (यथात्वम्) जैसा कि तू।

[ज्यायान्=परमेश्वर अनादि है, अतः कोई प्राणी उससे आयु में बड़ा नहीं]।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः॥
२।१२।२॥

(यः) जिसने (व्यथमानाम्) संचलित हुई (पृथिवीम्) पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़ किया, कठोर किया, (यः) जिसने (प्रकुपितान्) उद्विग्न हुए (पर्वतान्) पर्वतों को (अरम्णात्) शान्त किया। (यः)

---

१. यथा "तमीं होतारमानुषक् चिकित्वांसं निषेदिरे। रण्वं पावकशोचिषं यजिष्ठं सप्तधामभिः" (ऋ, ४।७।५)।

जिसने (वरीयः) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (विममे) नापा, (यः) जिसने (द्याम्) द्युलोक को (अस्तभ्नात्) धारण किया। (जनासः) हे प्रजाजनो! (सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर है।

[पूर्वयुग में पृथिवी अत्युष्ण द्रवावस्था में थी, भूगर्भ की उष्णता और भी अधिक उष्ण थी, भूगर्भ से उठते रहते लावा के कारण, द्रवीभूत पृथिवी का स्तर संचलित होता रहता था। परमेश्वर ने समयान्तर पर इसे दृढ़ कर दिया, कठोर कर दिया। "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" (यजु० ३२।६)। इसी प्रकार पर्वत ज्वालामुखी भी थे, उद्विग्नावस्था में थे, उन्हें भी परमेश्वर ने शान्तावस्था में कर दिया]।

अग्ने नेमिरराँ इव देवाँस्त्वं परिभूरसि।
आ राधश्चित्रमृञ्जसे ॥ ५।१३।६॥

(अग्ने) हे सर्वाग्रणी परमेश्वर! (त्वम्) तू (अरान्, नेमिः, इव) अरों पर नेमि के सदृश, (देवान्) सूर्य, नक्षत्र आदि द्योतमान पदार्थों के (परिभूः) चारों ओर विद्यमान (असि) है। और (चित्रम्, राधः) नानाविध सम्पत्तियां (आ ऋञ्जसे) प्रदान करता है।

[नेमिः=रथ के पहिये पर, रथ के अरों के रक्षार्थ, काष्ठनिर्मित परिधिचक्र, या इस परिधिचक्र पर चढ़ाया गया लोहचक्र]।

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३वर्धमानः ॥६।९।४॥

(अयम्) यह (प्रथमः) अनादि परमेश्वर (होता) हमारे ध्यानयज्ञ का "होता" है, (इमम् पश्यत) इसे देखो, (मर्त्येषु) मरणधर्मा मनुष्यों में (इदम्, ज्योतिः) यह ज्योति (अमृतम्) अमृत है, मरण रहित है [इस का जन्म-मरण नहीं होता], (अयम् सः ध्रुवः) यह वह निश्चल परमेश्वर (जज्ञे) प्रकट हुआ है, (आ निषत्तः) जो कि सर्वत्र स्थित है, सर्वव्यापी है (अमर्त्यः) मरणरहित है, (तन्वा) मानुष शरीर द्वारा (वर्धमानः) वृद्धि को प्राप्त होता है।

[जज्ञे=ब्राह्मी दीप्ति देवों अर्थात् सिद्धयोगियों और ऋषियों को निज कृपा द्वारा प्रकट होती है, प्रकट होना ही उसका जन्म है

(यजु० ३१।१९,२०,२१)। तन्वा=परमेश्वरीय ज्योति मनुष्यशरीर में प्रकट होती है, प्रत्यक्ष होती है; अथवा मनुष्य शरीर में "तन्वा" निज विस्तृत स्वरूप द्वारा यह ज्योति शनैः शनैः वृद्धि को प्राप्त होती है, प्रकाश में बढ़ती जाती है]।

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु॥
६।९।५॥

(पतयत्सु अन्तः) उड़ती हुई इन्द्रियों और मनों में (मनो जविष्ठम्) मन से अधिक वेग वाली, तो भी (ध्रुवम्) निश्चल (ज्योतिः) परमेश्वररूप ज्योति, (कम्) जो कि सुखस्वरूप है, (दृशये) दर्शन के लिये (निहितम्) स्थित है। (समनसः) मननसम्पन्न, (सकेताः) तथा प्रज्ञासम्पन्न (विश्वे देवाः) सभी ध्यानी-देव (एकम्) इस एक (क्रतुम्) प्रज्ञानी परमेश्वर को (साधु) सम्यक्रूप में (अभि वि यन्ति) प्राप्त होते हैं।

[मनोजविष्ठम्=मनसो जवीयः (यजु० ४०।४)। केतः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)। प्रकरणानुसार प्रज्ञा है "ऋतम्भरा प्रज्ञा" (योग १।४८)। परमेश्वर एक ही है जिसे कि मननसम्पन्न और प्रज्ञासम्पन्न योगी प्राप्त होते हैं]।

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥ ६।१६।१३॥

(अग्ने) हे अग्निवत् प्रकाशमान परमेश्वर! (त्वाम्) तुझे (अथर्वा) निश्चलवृत्तियों वाले योगी ने, (पुष्करात् अधि) हृदय-कमल से, तथा (विश्वस्य) समग्र शरीर का (वाघतः) वहन करने वाले (मूर्ध्नः) मूर्धा से, (निरमन्थत) मथ कर निष्पन्न किया।

[जैसे दो अरणियों से मथ कर अग्नि को निष्पन्न किया जाता है वैसे हृदय-पुष्कर और मूर्धा से ध्यानाभ्यासरूपी मथन द्वारा परमेश्वराग्नि को ध्यानी योगी प्रकट करता है। अथर्वा="थर्वतिः चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः" (निरुक्त ११।२।१९)]।

नहि तें पूर्तमंक्षिपद् भुवंन्नेमानां वसो ।
अथा दुवों वनवसे ॥ ६।१६।१८॥

(नेमानाम् वसो) हे नत हुओं में वसने वाले ! (ते) तेरा (पूर्तम्) भरपूर तेज (अक्षिपत्) आंखों को झपकाने वाला (नहि) नहीं होता। (अथा) इसलिये (दुवः) परिचर्या का (वनवसे) तू भागी बनता है।

[टार्च तथा सूर्य के उग्र प्रकाश से आंखें झपक जाती हैं, परन्तु परमेश्वराग्नि का उग्र प्रकाश शान्तिप्रद होता है, चित्ताक्षि के लिये। समाधि में परमेश्वराग्नि का भरपूर उग्र प्रकाश जब प्रकट होता है तब वाह्याक्षि निमीलित रहती है। ऐसी अवस्था में उपासक निज परिचर्या परमेश्वर को भेंट कर सकते हैं। नेमा नमनात् (वेंकट माधव)]।

यत्र क्वं च ते मनो दक्षं दधस उत्तंरम् ।
तत्रा सदः कृणवसे ॥ ६।१६।१७॥

(यत्र क्व च) जिस किसी उपासक में (ते) तेरी (मनः) मनोवान्छा होती है, उसमें तू (उत्तरम् दक्षम्) श्रेष्ठ समृद्धि (दधसे) स्थापित कर देता है। (तत्र) और उसमें (सदः) अपना निवास स्थान (कृणवसे) कर लेता है।

[दक्षम्=दक्ष वृद्धौ (भ्वादिः)। अथवा "दक्षः बलनाम" (निघं० २।९)। अतः "दक्षम् उत्तरम्"=उत्कृष्ट आध्यात्मिक बल]।

न यं जरन्ति शरदो न मासा न द्याव इन्द्रमव कर्शयन्ति ।
वृद्धस्यं चिद् वर्धतामस्य तनूः स्तोमेभिरुक्थैश्चं शस्यमाना ॥
६।२४।७॥

(न, यम्, इन्द्रम्) न जिस इन्द्र, परमेश्वर को (शरदः) शरद् ऋतुएं (जरन्ति) जरावस्था लाती हैं, (न मासा, न द्यावः) न मास, न दिन (अवकर्शयन्ति) कृश करते हैं। (अस्य) इस (वृद्धस्य चिद्) प्रवृद्ध की भी (तनूः) तनू (स्तोमेभिः, उक्थैः च) स्तुतिमन्त्रों और सामगानों द्वारा, (शस्यमाना) स्तुत होती हुई (वर्धताम्) और बढ़ती है।

[तनूः=स्वरूप। परमेश्वर न जरावस्था को प्राप्त होता, न कृश होता है। यह काल के प्रभाव से रहित है। उपासकों की स्तुतियों और सामगानों द्वारा परमेश्वर का प्रकाश बढ़ता जाता है]।

इन्द्र मृळ मह्यं जीवातुमिच्छ चोदय धियमयसो न धाराम्।
यत् किं चाहं त्वायुरिदं वदामि तज्जुषस्व कृधि मा देव-
वन्तम् ॥६।४७।१०॥

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर! (मृड) मुझे सुखी कर, (मह्यम्) मेरे लिये (जीवातुम्) दीर्घ जीवन (इच्छ) चाह, (अयसः) लोहे की (धाराम्, न) धारा के सदृश (धियम्) मेरी बुद्धि को (चोदय) तीक्ष्ण कर। (त्वायुः) तुझे चाहने वाला (अहम्) मैं (यत् किं च इदम्) जो कुछ यह (वदामि) कहता हूं, (तत्) उसे (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सम्पन्न कर, (मा) मुझे (देववन्तम्) निजदेव का अपना (कृधि) बना ले।

[व्यक्ति की वैयक्तिक प्रार्थना है। इन्द्र=इदि परमैश्वर्ये (भ्वादिः)]।

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद् राध उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥
७।२७।३॥

(इन्द्रः राजा) इन्द्र राजा है (जगतः, चर्षणीनाम्) जगत् का तथा मनुष्यों का, और (क्षमि अधि) पृथिवी में (विषुरूपम्, यत्, अस्ति) नानारूप जो कुछ है [उस का]। (ततः) उस में से (दाशुषे) दानी के लिये (वसूनि) धन (ददाति) देता है और (उपस्तुतः चिद्) स्तुति पाकर (राधः) धन को (अर्वाक्) हमारी ओर (चोदत्) प्रेरित करता है।

[इन्द्र जगत् और मनुष्यों का राजा है। वह उदार-दानी को धन देता है, और स्तुत होकर उस दानी के प्रति धन को प्रेरित करता रहता है। इन्द्र=परमैश्वर्यवान् परमेश्वर]।

यदिन्द्र यावंतस्त्वमेतावदहमीशीय ।
स्तोतारमिद् दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय॥७।३२।१८

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यद्=यदि) यदि (अहम्) मैं (एतावद्) इतने धन का (ईशीय) अधीश्वर होऊं (यावतः) जितने का (त्वम्) तू अधीश्वर है, तो (स्तोतारम् इत्) तेरे स्तोता का ही (दिधिषेय) मैं धारण-पोषण करूं, (पापत्वाय) पापकर्म के लिये (न रासीय) न दूं, (रदावसो) हे धन के महादाता ! ।

[उपासक परमेश्वर के प्रति कहता है कि तूने नास्तिकों और पापियों को भी भरपूर धन दे रखा है, मैं तो तेरे उपासक को ही धन देता हूं, और पापियों को नहीं । रदावसो[1]=रा+दा+वसो । रासीय =रासृ दाने (भ्वादिः)] ।

शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद् विदे ।
नहि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥
७।३२।१९॥

(शिक्षेयम्[2], इत्) मैं दूं ही (रायः) धन (महयते[3]) तेरे स्तोता को, (दिवेदिवे) प्रतिदिन, (आ) सर्वत्र (कुहचिद् विदे) अर्थात् चाहे वह स्तोता कहीं भी विद्यमान हो। (मघवन्) हे धनपति ! (वस्यः) हे वासयितः ! अथवा हे वसुवाले ! (त्वत् अन्यत्) तुझ से भिन्न (हि) निश्चय (नहि अस्ति) नहीं है (नः आप्यम्) हमारा कोई प्रापणीय बन्धु, और (पिताचन) पालक पिता भी ।

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥
७।३२।२६॥

---

१. अथवा रदावसो=रद विलेखने (भ्वादिः) । विलेखन=उखाड़ना । उपासक परमेश्वर का उपालम्भ करता है कि तू तो प्रलयकाल में सब धनों का विनाश कर देता है । सृष्टि में नास्तिकों और पापियों के धनों को तू विनष्ट क्यों नहीं कर करता । २. शिक्षति दानकर्मा (निघं० ३।२०) ।
३. महयति अर्चतिकर्मा (निघं० ३।१४) ।

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमेश्वर ! (नः) हमें (क्रतुम्) प्रज्ञा (आभर) प्रदान कर, (यथा) जैसे (पिता पुत्रेभ्यः) पिता पुत्रों को ज्ञान देता है। (पुरुहूतं) हे बहुतों द्वारा या बहुत बार आहूत ! (अस्मिन् यामनि) इस घड़ी में (नः शिक्ष) हमें प्रज्ञा प्रदान कर, ताकि (जीवाः) जीवित हम (ज्योतिः) तुझ ज्योतिःस्वरूप को (आशीमहि) हम पा सकें।

[उपासक परमेश्वर की दिव्य ज्योति के अभिलाषी हैं। वे जीवन को अल्पकालस्थायी अनुभव कर रहे हैं, अतः उस प्रज्ञा की वे याचना कर रहे हैं जिस द्वारा वे दिव्य ज्योति को पा सकें। यह प्रज्ञा सम्भवतः ऋतम्भरा प्रज्ञा है। क्रतुः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)। सम्भव है यामनि द्वारा त्रियामा अर्थात् तीन घड़ियों वाली रात्रि अभिप्रेत हो जो कि अन्धकारमयी होती है और जो कि आसन्नमृत्यु की द्योतिका है। उपासक इस रात्रि से पूर्व ही परमेश्वर की ज्योति पाना चाहते हैं]।

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥

७।४९।३॥

(यासाम्) जिन "आपः" के (मध्ये) मध्य में, (राजा वरुणः) पापों का निवारण करने वाला, जगत् का राजा, (जनानाम्) प्रजाजनों के (सत्यानृते) सत्य और अनृत को (अवपश्यन्) देखता हुआ (याति) विचरता है, (याः) जो "आपः" कि (मधुश्चुतः) आनन्दरसमय परमेश्वर के मधुर आनन्दरस का प्रस्रवण करते हैं, (शुचयः पावकाः) स्वयं पवित्र और अन्यों को पवित्र करते हैं, (ताः) वे (देवीः) दिव्य (आपः) आपः (इह) इस जीवन में (माम्) मेरी (अवन्तु) रक्षा करें।

["आपः" द्वारा हृदयान्तर्गत रक्तरूपी आपः अर्थात् जलों को सूचित किया है (अथर्व० १०।२।११) "राजा वरुण" देखो (अथर्व० ४।१६।१-९)। वरुणः=वारयति निवारयति पापात्। परमेश्वर हृदयान्तर्वासी हुआ, प्रजाजनों के सत्यानृत को देख रहा होता है। उसका आनन्दरस मधु अर्थात् मधुर होता है जिसे पाकर उपासक

आनन्दी हो जाता है। इस प्रकार ये "आपः" उपासक को पवित्र कर उसकी रक्षा करते हैं]।

मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥८।१।१॥

(सखायः) हे मित्रो! (अन्यत्) अन्य किसी की (मा विशंसत) न विविध स्तुतियां करो, (मा रिषण्यत) और न हिंसित होओ। (वृषणम्) सुखवर्षी (इन्द्रमित्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर को ही (स्तोत) स्तुतियां करो, (च) और (सुते) उत्पन्न जगत् में (सचा) परस्पर संगत होकर (मुहुः) बार-बार (उक्था) सामगान (शंसत) स्तुतिरूप में भेंट करो।

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥८।१।५॥

(अद्रिवः) हे मेघ के स्वामिन्! (महे शुल्काय) महामूल्य के लिये (त्वाम्) तुझे (न) न (परा देयाम्) मैं बेचूं, या न तेरा परित्याग करूं। (न सहस्राय) न हजार के लिये, (न अयुताय) न दस हजार के लिये, (शतामघ) हे अनन्त धनों के स्वामिन्! (न शताय) न अनन्तधन के लिये, [तुझे बेचूं, या तेरा परित्याग करूं], (वज्रिवः) हे वज्रवाले!

[अद्रिवः, अद्रिः मेघनाम (निघं० १।१०)। वज्रिवः=विद्युत् रूपी वज्र वाले!। इन्द्र के ये दो विशेषण साभिप्राय हैं। मेघ जब बरसता है तो जलधाराएं अनगिनत होती हैं। इस द्वारा इन्द्र के अनगिनत दानों को सूचित किया है, और वज्रिवः द्वारा उसे विद्युत् रूप वज्र के धारण वाला कहकर उसकी महाशक्ति दर्शाई है, जिस द्वारा इन्द्र उपासक की पूर्ण रक्षा कर सकता है। इस लिये ऐसे इन्द्र का परित्याग, उपासक, किसी भी प्रलोभन पर नहीं करना चाहता। शताय=कविता में शतशब्द का प्रयोग छन्दोभंग न होने की दृष्टि से मन्त्रान्त में हुआ है। अथवा "शत" का अभिप्राय है "अनन्त"]।

ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत् ।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥८।६।५॥

(अस्य) इस परमेश्वर का (तत् ओजः) वह ओज (तित्विषे) चमकता है (यत्) जब कि (उभे रोदसी) दोनों भूलोक तथा द्युलोक को (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (समवर्तयत्) लपेट लेता है [प्रलयकाल में], (चर्म इव) जैसे कि मृगछाल को लपेट लिया जाता है]।

कुह श्रुत इन्द्रः कस्मिन्नद्य जने मित्रो न श्रूयते ।
ऋषीणां वा यः क्षये गुहा वा चर्कृषे गिरा ॥ १०।२२।१॥

(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (कुह) कहां (श्रुतः) सुना जाता है; (अद्य) आज के दिन (कस्मिन् जने) किस जन में (मित्रो न) स्नेही मित्र के सदृश (श्रूयते) सुना जाता है। (यः) जो (वा) या (ऋषीणाम्) ऋषियों के (क्षये) निवासस्थान में, (वा) या (गुहा) हृदय-गुफा में (गिरा) वेदवाणी द्वारा (चर्कृषे) आकृष्ट होता है।

[परमेश्वर सुना जाता है,(१) ऋषियों के निवास स्थान में,(२) तथा उनकी हृदय-गुफा में। वह आकृष्ट होता है वेदवाणियों द्वारा स्तवन में। वह श्रुत होकर स्नेही मित्र के सदृश स्नेह करता है]।

इह श्रुत इन्द्रो अस्मे अद्य स्तवे वज्री ऋचीषमः ।
मित्रो न यो जनेष्वा यशश्चक्रे असाम्या ॥ १०।२२।२॥

(वज्री) विघ्नों के विनाश के लिये वज्रधारी, (ऋचीषमः) तथा ऋचाओं में समरूप से विख्यात, (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (अद्य) आज के दिन (अस्मे स्तवे) हमारे स्तवन में (इह) इस हमारे हृदय-गुफा में (श्रुतः) सुना गया है। (यः) जिसने कि (असामि) पूर्णतया (मित्रः न) स्नेही मित्र के सदृश (जनेषु) उपासक जनों में (आ) सर्वत्र (यशः) निज यश का (आ चक्रे) विस्तार किया है।

[मन्त्र १०।२२।१ में प्रश्न तथा उत्तर दोनों दिये हैं। पूर्वार्ध में प्रश्न तथा उत्तरार्द्ध में उत्तर। मन्त्र १०।२२।२ में उत्तर की अधिक

व्याख्या की गई है। "ऋचीषमः" द्वारा दर्शाया है कि परमेश्वर ऋचाओं में समरूप में विख्यात है। यथा "यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति" (ऋ० १।१६४।३९), अर्थात् ऋचाओं का स्वाध्याय करने पर भी जो परमेश्वर को नहीं जानता उसे ऋचाओं से क्या लाभ हुआ ? असामि=सामि (अर्ध, Half आप्टे); असामि=न अर्ध, अर्थात् पूर्णतया, (क्रिया विशेषण)]।

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् ॥
१०।४८।१॥

(पूर्व्यः) पूर्वकाल में होने वाला, (अहम्) मैं परमेश्वर (वसुनः) धनों का (पतिः भुवम्) स्वामी हुआ हूं, (शश्वतः) शाश्वत काल से (अहम्) मैं (धनानि संजयामि) सब धनों पर विजय पाए हुआ हूं। (जन्तवः) जन्मधारी प्रजाएं (माम्) मुझे (पितरम्, न) पिता के सदृश (हवन्ते) पुकारती हैं, (अहम्) मैं (दाशुषे) जिसने दिया है उस के लिये (भाजनम्) भोजन-सामग्री (विभजामि) विभागपूर्वक देता हूं।

[दाशुषे=भूतकालिक प्रयोग है। अभिप्राय यह कि जिसने निज पूर्वजन्म में मेरे नाम पर, या स्वेच्छया अन्यों के प्रति भोजन-सामग्री दी है उन्हीं को, उन के वर्तमान जीवन में, मैं भोजन-सामग्री विभागशः दे रहा हूं। इस कथन द्वारा धनिकों को सूचित किया है कि तुम ने पूर्वजन्मों में भोगसामग्री का दान किया था, इसीलिये मुझ द्वारा तुम्हें यह सामग्री प्राप्त हुई है। इस सामग्री को प्राप्त कर इस का तुम दान भो करो, ताकि भावी जन्मों में भी तुम्हें भोगसामग्री मुझ से मिलती रहे]।

मया सो अन्नमत्ति यो वि पश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥
१०।१२५।४॥

(मया) मुझ द्वारा [दिये] (अन्नम्) अन्न को (सः) वह (अत्ति) खाता है (यः) जो कि (वि पश्यति) विविध जगत् को देखता है, (यः)

जो (प्राणिति) प्राण धारण कर रहा है, (यः) जो (उक्तम्) कथित वाणी को (शृणोति) सुनता है (ते) वे (अमन्तवः) मुझे न मानने वाले अज्ञानी (माम्, उपक्षियन्ति) मेरे आश्रय पर ही निवास करते हैं, (श्रुत) हे श्रवणशक्ति सम्पन्न ! (श्रुधि) तू सुन, (ते) तेरे लिये (श्रद्धिवम्) श्रद्धेय-तत्त्व (वदामि) मैं कहता हूं।

[परमेश्वर-माता श्रद्धावान् व्यक्ति के प्रति कहती है कि इस श्रद्धा योग्य बात को तू सुन, कि जगत् के सब मनुष्य मुझ द्वारा दिया अन्न खाते, और मेरे आश्रय पर ही निवास करते, परन्तु वे अज्ञानी मेरी सत्ता से इन्कार करते हैं, मुझे नहीं मानते]।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूँ द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥

१०।१२५।७॥

(अहम्) मैं परमेश्वर-माता (सुवे) जन्म देती हूं (पितरम्) सौर-जगत् के पिता सूर्य को (अस्य) इस जगत् के (मूर्धन) मूर्धा में (मम) मेरा (योनिः) घर है (समुद्रे, अप्सु, अन्तः) समुद्र में जलों के भीतर। (ततः) उस घर में बैठी ही (विश्वा भुवना अनु) सब भुवनों में (वितिष्ठे) मैं स्थित हो रही हूं, (उत) और (अमूम्, द्यां) उस द्युलोक को (वर्ष्मणा) निज तनू द्वारा, विस्तार द्वारा, (उप स्पृशामि) स्पर्श कर रही हूं।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥

१०।१२५।८॥

(अहम् एव) मैं ही [विना किसी द्वारा प्रेरित हुई], (वातः इव) वायु के सदृश (प्रवामि) शीघ्र गतिवाली हुई हूं, (भुवनानि विश्वा आरभमाणा) और सब भुवनों का अवलम्बन कर रही हूं। (दिवा परः) द्युलोक से भी परे, (एना पृथिव्या परः) और इस पृथिवी से भी परे [मैं हूं], (एतावती) इतनी मैं (महिना) निज महिमा से (सं बभूव) हुई हूं।

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समानः ॥

ऋ० १०।५५।५॥

(विधुम्) प्रजाओं के लिये नियमों का विधान करने वाले, (समने) युद्ध में (बहूनाम्) बहुसंख्यक योद्धाओं की (दद्राणम्) गतियों को कुत्सित करने वाले, (युवानम्, सन्तम्) युवा होते हुए [राष्ट्रपति] को भी (पलितः) बुढ़ापा (जगार) निगल जाता है। [इस रहस्य के ज्ञानार्थ] (देवस्य) परमेश्वर देव के (काव्यम्) वेद काव्य को (पश्य) तू देख, (महित्वा) उस परमेश्वर की महिमा द्वारा (सः) वह (अद्य) आज (ममार) मर जाता है, जो कि (ह्यः) गत दिवस (समानः) प्राणों से संयुक्त था।

[समने=संग्रामे (निरुक्त, ९।२।१७; पद "ज्या" (१३)। पलितः=पालित्य। यथा "न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः" (मनु)। विधुम्=विधातारम् (वेङ्कट माधव)। समान=सगतः प्राणेन; अन प्राणने (अदादिः)। दद्राणम्=द्रा कुत्सायां गतौ (अदादिः)। यद्यपि इस मन्त्र का विनियोग चन्द्रमा और आदित्य के सम्बन्ध में किया जाता है, परन्तु निरुक्तकार ने इसका विनियोग "इत्यात्मगतिमाचष्टे" द्वारा जीवात्म परक भी किया है [निरुक्त १३ (१४)। २(१)। ३२(१९)]।

जीवात्मा और उसकी गतिविधि

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्यु-
रन्यम् ॥१।१६४।३८॥

(अमर्त्यः) अमरणधर्मा जीवात्मा (मर्त्येन) मरणधर्मा सूक्ष्म शरीर के साथ (सयोनिः) एक योनि होता है [एक योनि में इकट्ठे दोनों जाते हैं], यह जीवात्मा (स्वधया) स्वनिष्ठ संस्कारों द्वारा (गृभीतः) पकड़ा हुआ (अपाङ् प्राङ् एति) अधोगति और प्रकृष्टगति को प्राप्त होता है। (ता=तौ) वे दोनों (शश्वन्तौ) अनादि-काल से साथ-साथ रहते, (विषूचीना=विषूचिनौ) सर्वत्र गति करते, तथा (वियन्ता=वियन्तौ) परस्पर विरुद्ध धर्मों वाले हैं। सर्वसाधारण लोग (अन्यम्) एक अर्थात् सूक्ष्म शरीर को (निचिक्युः) जानते हैं, (अन्यम्) उससे भिन्न जीवात्मा को (न निचिक्युः) नहीं जानते।

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥
१।१६४।३७॥

(न) नहीं (विजानामि) विशेषतया मैं जानता कि (यद् इदम्) यह जो शरीर है (इव) तद्रूप (अस्मि) मैं हूं, अथवा (निण्यः) इसमें अन्तर्हित अर्थात् छिपा हुआ मैं हूं, जोकि (मनसा) मन द्वारा (संनद्धः) बन्धा हुआ, जकड़ा हुआ (चरामि) नाना जन्मों में विचरता हूं। (यदा) जब (ऋतस्य) सत्यज्ञान का (प्रथमजाः) सर्वप्रथम जनयिता (मा आ अगन्) मुझे प्राप्त होता है (आत इत्) इसके पश्चात् ही (अस्याः वाचः) इस वेदवाणी के (भागम्) भजनीय ब्रह्म को (अश्नुवे) मैं प्राप्त होता हूं।

[व्यक्ति कहता है कि मैं नहीं जानता कि मैं शरीररूप हूं, या इस में अन्तर्हित हुआ इससे अतिरिक्त हूं। परन्तु जब परमेश्वर निज कृपा द्वारा मुझ में प्रकट हो जाता है तब वेदोद्घोषित ब्रह्म को मैं प्राप्त हो कर निजात्मस्वरूप को जान पाता हूं, जोकि शरीर को छोड़कर ब्रह्म को प्राप्त हो रहा हूं। निण्यम् निर्णीतान्तर्हितनाम (निघं० ३।२५)]।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥
१०।१७७।३॥

(गोपाम्) इन्द्रियों के रक्षक, (अनिपद्यमानम्) अनश्वर, (आ च) समीप के (परा च) और दूर के (पथिभिः) मार्गों से (चरन्तम्) विचरते हुए को (अपश्यम्) मैंने देखा है, साक्षात् किया है। (सः) वह (सध्रीचीः) समानान्तर चलने वाली, (सः) वह (विषूचीः) सब ओर अर्थात् असमानान्तर चलने वाली [नस-नाड़ियों को] ओढ़नियों को (वसानः) ओढ़े हुए (भुवनेषु अन्तः) भुवनों के अन्दर (आ वरीवर्ति) वार-बार आता है।

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥
१०।१६।३॥

(चक्षुः) तेरी नेत्र ज्योतिः (सूर्यम्) सूर्य को (गच्छतु) प्राप्त हो, (आत्मा) आत्मा (वातम्) वायु को (द्याम् च) द्युलोक को, (पृथिवीम् च) और पृथिवी को (धर्मणा) स्वकृतधर्मकर्म के अनुसार (गच्छ) तू प्राप्त हो। (वा अपो गच्छ) या सामुद्रिक जल में जा [सामुद्रिक प्राणि-रूप में जन्म लेने के लिये], (यदि तत्र ते हितम्) यदि वहां तेरा हित होता हो, (ओषधीषु) अथवा ओषधियों में (प्रतितिष्ठ) स्थिति को प्राप्त हो (शरीरैः) शरीरों द्वारा।

[ओषधियों में भी जीवात्मा की गति होती है, यह वैदिक सिद्धान्त है। शरीरैः=स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों द्वारा। अथवा ओषधियों में लगातार नाना जन्म लेने से नाना शरीर]

अव॑ सृज॒ पुन॑रग्ने पि॒तृभ्यो॒ यस्त॒ आहु॑त॒श्चर॑ति स्व॒धाभि॑: ।
आयु॒र्वसा॑न॒ उप॑ वेतु॒ शेष॒: सं ग॑च्छतां त॒न्वा॑ जातवेदः ॥

१०।१६।५॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यः) जो भाग (ते) तेरे लिये (आहुतः) आहुत हुआ है, (शेषः) उससे जो अवशिष्ट भाग जीवात्मा का है उसे (पुनः) फिर (पितृभ्यः) माता-पिता आदि के लिये (अवसृज) छोड़ दे, वह (स्वधाभिः) स्वनिष्ठ संस्कारों के द्वारा (चरति) विचरता है, ताकि (आयुः वसानः) आयु को धारण कर (उपवेतु) वह जन्म ग्रहण करे (तन्वा) और शरीर के साथ (सं गच्छताम्) संगत हो, (जातवेदः) हे जातविद्य ! या जातप्रज्ञान ! अर्थात् हे ज्ञानी या प्रज्ञा वाले परमेश्वर ! ।

[मन्त्र में भौतिक अग्नि में प्रविष्ट परमेश्वर को अग्नि; तथा विज्ञ और प्रज्ञानी परमेश्वर को जातवेदः कहा है। "शेषः" को मन्त्र १०।१६।४ में "अजोभागः" कहा है। वेतु=वी गतिव्याप्तिप्रजन-कान्त्यसनखादनेषु (अदादिः)] ।

अ॒ग्नेर्व॒यं प्र॑थ॒मस्या॒मृता॑नां॒ मना॑महे॒ चारु॑ दे॒वस्य॒ नाम॑ ।
स नो॑ म॒ह्या अदि॑तये॒ पुन॑र्दात्पि॒तरं॑ च दृ॒शेयं॑ मा॒तरं॑ च ॥

१।२४।२॥

(अमृतानाम्) अमृतों में से (प्रथमस्य) सर्वप्रथम अमृत (देवस्य) देवाधिदेव (अग्नेः) सर्वाग्रणी परमेश्वर के (चारु) सुन्दर तथा रुचिकर (नाम) ओ३म् नाम का (वयम्) हम [जीवन्मुक्त] (मनामहे) मनन करते हैं, (सः) वह (नः) हमें (मह्यै) महिमायुक्त (अदितये) पृथिवी के लिये (पुनः) फिर (दात्) प्रदान करे, ताकि (पितरम्) पिता (मातरम्, च) और माता के (दृशेयम्) मैं दर्शन करूं ।

[मन्त्र में मुक्तात्माओं की अभिलाषा का वर्णन है। अमृत परमेश्वर के अमृतनाम ओ३म् के जप द्वारा वे मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। मोक्षसुख की अवधि के पूर्ण होने के पश्चात् वे पुनर्जन्म के अभिलाषी हैं। "वयम् और दृशेयम्" में बहुवचन और एकवचन द्वारा यह

सूचित किया है कि मुक्तात्माओं में से जो मुक्तात्मा पुनर्जन्म के लिये अभिलाषी हैं, परमेश्वर उन्हें पुनर्जन्म देता है, सबको नहीं। चारु= रुचेर्विपरीतस्य (निरुक्त ११।१६) पद संख्या चन्द्रमा: (३)। अग्निः=अग्रणीः भवति (निरुक्त ७।४।१३)]।

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।
मृळासुक्षत्र मृळय ॥ ७।८९।१॥

(वरुण राजन्) हे वरुण राजन्! (अहम्) मैं (मृन्मयम्) मिट्टी-मय (गृहम्) घर में (मा उसु) न (गमम्) जाऊं। (सुक्षत्र) हे उत्तम बलशालिन्! (मृळा) मेरे मिट्टीमय शरीर को चूर्णित कर दे, इस प्रकार (मृळय) मुझ आत्मस्वरूप को सुखी कर दे।

[मुक्ति चाहने वाला, वरुण राजा से प्रार्थना करता है कि मेरे मृन्मय घर [शरीर] को चूर्णित कर ताकि मैं जीवात्मा मोक्ष सुख को पा सकूं। (मृळ)=मृळ क्षोदे (क्र्यादिः)। क्षोदः Pounding granding, Dust (आप्टे); णिजर्थः अन्तर्भावितः=चूर्णित कर दे। मृळय=मृड सुखने (तुदादिः)। शरीर मृन्मय है, पृथिवी है, मिट्टी है, यथा पृथिव्याः शरीरम्। पृथिवी शरीरम् (अथर्व० ५।१०।८; ५।९।७)। सुक्षत्र=सुजल! (वेङ्कट माधव)। अथवा सुक्षत्र=सु+क्षत्+त्र; उत्तमरूप से क्षतों तथा क्षतियों से त्राण करने वाले पर-मेश्वर!]

परमेश्वर और जीवात्मा में भेद

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

१०।८२।७॥

(तम्, न विदाथ) उसको तुम नहीं जानते (यः, इमा=इमानि, जजान) जिसने कि इन भुवनों को पैदा किया है, (अन्यत्) वह तुमसे भिन्न है, और (युष्माकम्, अन्तरम्, बभूव) तुम्हारी [आत्माओं] के भीतर है। [तुम इसलिये उसे नहीं जानते कि तुम] (नीहारेण) अविद्या के कोहरे द्वारा (प्रावृताः) घिरे हुए हो, (जल्प्या च) और जल्प [वाद, वितण्डा] द्वारा घिरे हुए हो, (च) और (असुतृपः) केवल प्राणों की तृप्ति में रत हो, तथा (उक्थशासः) वेदों के उक्थों अर्थात् सूक्तों या उक्तियों का केवल कथनमात्र करते हुए (चरन्ति) विचरते हो।

[अविद्या=अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या (योग २।५), अर्थात् अनित्य वस्तुओं को नित्य समझना, अशुचि को शुचि, दुःख को सुख और अनात्मतत्त्वों को आत्मा जानना अविद्या है। मन्त्र में "अन्यत्" शब्द द्वारा परमेश्वर और जीवात्माओं में भेद दर्शाकर जीवात्माओं[1] के "अन्तरम्" अर्थात् भीतर परमेश्वर की स्थिति दर्शाई है]।

---

१. यथा "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। य आत्मनोऽन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः (बृहदारण्यक, सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास); अर्थात् जो परमेश्वर, आत्मा अर्थात् जीवात्मा में स्थित है और जीवात्मा से भिन्न है, जिसको मूढ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्याप्त है। जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर, अर्थात जैसे शरीर में जीवात्मा रहता है, वैसे ही जीवात्मा में परमेश्वर व्यापक है। जीवात्माओं से भिन्न रहकर, जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होकर, उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है। वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है, उस को तू जान (सत्यार्थप्रकाश)। (बृह० उप० के दो पाठ हैं—काण्व और माध्यन्दिन) यह पाठ माध्यन्दिन बृह० उप० का है। माध्यन्दिन शत० १४।६।७।३२॥ सत्यार्थप्रकाश, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, (सोनीपत-हरयाणा)।

उपादान कारण

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥

१०।८१।२॥

(किं स्वित्) कौन सा (आसीद्) था (अधिष्ठानम्) बैठने का स्थान, तथा (कत्तमत् स्वित्) कौन सा था (आरम्भणम्) जगत् के प्रारम्भ करने का तत्त्व, (कथा आसीत्) तथा किस प्रकार का था वह आरम्भण-तत्त्व; (यतः) जिस आरम्भण तत्त्व से (भूमिम्) भूमि को (जनयन्) पैदा करते हुए (विश्वकर्मा) विश्व के कर्त्ता तथा (विश्वचक्षाः) विश्व के द्रष्टा ने (महिना) निज महिमा द्वारा (द्याम्) द्युलोक को (वि और्णोत्) आच्छादन रहित किया था।

[अधितिष्ठत्यस्मिन्निति अधिष्ठानम्। आरम्भणम् =आरभ्यतेऽनेनेति, उपादानकारणम्। कतमत्="डतमप्" प्रत्यय से उत्पादक कारण बहुत प्रतीत होते हैं, उनमें से "आरम्भण" कौन सा कारण था ? वह था उपादानकारण प्रकृति। "कथा" द्वारा आरम्भण कारण की अवस्था पूछी गई है। प्रकृति की अवस्था प्रलय में साम्यावस्था में, और सर्जन में विषमावस्था में होती है। "वि और्णोत्" द्वारा ज्ञात होता है कि द्युलोक किसी काल में किसी घने आवरण द्वारा आच्छादित था, जिसे विश्वकर्मा ने अनाच्छादित किया]।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥

१०।८१।३॥

(विश्वतः चक्षुः) सबका द्रष्टा (उत) तथा (विश्वतः मुखः) सब ओर से उपदेष्टा (विश्वतः बाहुः) सब ओर बाहुओं की कृतियों वाला, (उत) तथा (विश्वतः पात्) सब ओर पहुंचा हुआ परमेश्वर (बाहुभ्याम्) बाहुस्थानीय बल और पराक्रम द्वारा (संधमति) जगत्

को सम्यक् प्राप्त हो रहा है, और (पतत्रैः) क्रियाशील परमाणुओं द्वारा (द्यावाभूमी) द्युलोक और भूमि को (संजनयन्) पैदा करता है, वह (देवः एकः) परमेश्वर देव एक है, अद्वितीय सहायरहित है।

[बाहुभ्याम्=बहु बाह्वोर्बलम् (अथर्व० १९।६४।१)। धमतिः गत्यर्थः संधमति, सम्यक् प्राप्नोति। पतत्रैः=पतनशीलैः पञ्चभूतैरुपादानैश्च (महीधर)। इस प्रकार मन्त्र में पञ्चभूतों को भी जगत् का उपादान कारण कहा है। प्रकृति अर्थात् प्रकृति की विषमावस्था और पञ्चभूत या परमाणु, ये क्रमोत्पन्न जगत् के क्रमिक उपादान कारण हैं]।

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥

१०।८१।४॥

(किंस्विद् वनम्) कौन सा वन, (क उ) और कौन सा (सः वृक्षः) वह वृक्ष (आस) था, (यतः) जिससे (द्यावापृथिवी) द्युलोक-पृथिवीलोक को (निष्टतक्षुः) दिव्यशक्तियों ने घड़ निकाला। तथा (मनीषिणः) हे मेधावियों! (मनसा) मनन या विचारपूर्वक (तद् उ) उस वस्तु को भी (पृच्छत) पूछो (यत्) जिस पर (अध्यतिष्ठत्) वह बैठा था (भुवनानि धारयन्) भुवनों को धारण करता हुआ, [परमेश्वर]।

[मन्त्र में उपादान-कारण को "वनम् तथा वृक्षः" द्वारा निर्दिष्ट करके, वृक्ष से द्यौः और पृथिवी की उत्पत्ति दर्शाई है। इस से प्रकृति को "वन" कह कर इस की बहुव्यापकता कथित की है, और वन के एकदेशस्थ "वृक्ष" द्वारा प्रकृति के एकांश से जगत् को उत्पत्ति दर्शाई है। अवशिष्ट प्रकृति अभी कार्यरूप में परिणत नहीं हुई। तथा मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि जो विश्वकर्त्ता भुवनों का धारण कर रहा है, उसका अपना कोई अधिष्ठान सम्भव नहीं]।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

१।८९।१०॥

अदिति द्यौः है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है, वह पिता अदिति है, वह पुत्र अदिति है। सब देव अदिति हैं, पञ्चजन अदिति हैं, उत्पन्न पदार्थ अदिति हैं, उत्पन्न होने वाले पदार्थ अदिति हैं।

[अदितिरदीना देवमाता (निरुक्त ४।४।२२, पद संख्या ४९)। अर्थात् अदिति [प्रकृति] है सूर्यादि दिव्य पदार्थों की माता, निर्माण करने वाली अर्थात् उपादान कारण है। तथा अदितिः अदीना है, क्षयरहित है "अ+दीङ् क्षये"। मन्त्र में वर्णित द्यौः आदि जड़ पदार्थ हैं। अदिति [प्रकृति] जड़ है, द्यौः आदि भी जड़ हैं। माता, पिता, पुत्र—ये चेतन जीवात्मा के सम्पर्क द्वारा चेतन प्रतीत होते हैं, परन्तु शरीररूप में ये जड़ हैं। "माता, पिता, पुत्र" व्यवहार शरीरकृत है। जीवात्मा न किसी की माता, न किसी का पिता और न किसी का पुत्र है। अतः अदिति [प्रकृति] इन सब के शरीरों का उपादान कारण है। निरुक्त में अदिति [प्रकृति] को अदीना अर्थात् "न क्षीण होने वाली" कहा है [अदितिः=अ+दीङ् (क्षये)+क्तिन्] अतः यह अदिति नित्या है, जो कि सब जड़ जगत् का उपादान कारण है। "पञ्च जनाः" हैं पांच प्राण या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद। इस प्रकार उपादान कारण को व्याख्यात मन्त्रों में आरम्भण पतत्र, वन, वृक्ष तथा अदिति पदों द्वारा निर्दिष्ट किया है]।

प्राणि-सृष्टि

तस्माद् विराळजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥ १०।९०।५॥

(तस्मात्) उस परम पुरुष परमेश्वर से (विराट्) विशेष दीप्यमान तत्त्व (अजायत) पैदा हुआ, (विराजः) विशेष दीप्यमान तत्त्व का (अधि) अधिष्ठाता (पूरुषः) वह परमपुरुष था। (सः) वह [विराट्] (जातः) पैदा हुआ (अति अरिच्यत) बहुत फटा, उसका अतिविरेचन हुआ, (पश्चात्) तत्पश्चात् परम-पुरुष ने (भूमिम्) भूमि को (अथो) और (पुरः[1]) प्राणियों के शरीरों को [पैदा किया]।

[मन्त्र ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का है। सूक्त में परमेश्वर पुरुष का वर्णन है। ब्रह्माण्ड उसका पुर् है जिसमें कि वह शयन किये हुए है; या बसा हुआ है। पुरि शेते, वसति वा सः पुरुषः। इससे विराट्-तत्त्व पैदा हुआ, इसका अधिष्ठाता परमेश्वर पुरुष ही था। चेतन अधिष्ठाता के बिना, न तो विराट्-तत्त्व की उत्पत्ति सम्भव है, और न विराट्-तत्त्व से अगले प्रक्रम ही पैदा हो सकते हैं, इस विराट् का अतिविरेचन हुआ, और कालान्तर में भूमि पैदा हुई, और भूमि पर बसने वाले प्राणियों के "पुर्" अर्थात् शरीर पैदा हुए। विराट्=वि+राजृ (दीप्तौ)। मनु ने इसे सूर्य सदृश प्रभा वाला महत्-अण्ड कहा है। यथा "तदण्डमभवद् हैमं सहस्रांशुसमप्रभम्" (मनुस्मृति)। अतिअरिच्यत=रिचिर् विरेचने (रुधादिः)। तथा प्राण्युत्पत्ति के लिये देखो (ऋ० १०।९०।८,१०)।

---

१. इसी प्रकार आरण्य और ग्राम्य पशुओं की उत्पत्ति "पृषदाज्य" के लिये (मन्त्र ८); अश्वों तथा उभयतो दन्तों, गौओं, अजाओं और अवियों की उत्पत्ति (मन्त्र १०), तथा ब्राह्मणों, राजन्यों, वैश्यों, तथा शूद्रों की उत्पत्ति (मन्त्र १२), तथा देवों की उत्पत्ति (मन्त्र १६) में दर्शाई है। तथा ऋचः, सामानि, छन्दांसि, यजुः की उत्पत्ति दर्शाने से मनुष्यों की उत्पत्ति अर्थापन्न होती है (मन्त्र ९)।

वेदाविर्भाव

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ १०।९०।९॥

(तस्मात् यज्ञात्) उस यज्ञरूप परमेश्वर से (सर्वहुतः) जिसमें कि [प्रलय-काल में] सब आहुतिरूप हो जाते हैं (ऋचः सामानि) ऋचाएं और साम (जज्ञिरे) पैदा हुए, प्रकट हुए, (तस्मात्) उससे (छन्दांसि) छन्द (जज्ञिरे) पैदा हुए, प्रकट हुए, (तस्मात्) उससे (यजुः) यजुर्वेद (अजायत) पैदा हुआ, प्रकट हुआ ।

[ऋचः, सामानि, यजुः, द्वारा तीन वेदों अर्थात् ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद का निर्देश कर दिया । अतः परिशेषन्याय द्वारा, 'छन्दांसि' द्वारा अथर्ववेद को निर्दिष्ट किया है । छन्दांसि के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने कहा है कि "वेदानां गायत्र्यादिछन्दोन्वितत्वात् पुनः छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम्" (ऋ० भा० भूमिका, वेदोत्पत्ति विषय), अर्थात् ऋक्, साम, यजुः—ये वेद गायत्री आदि छन्दों से युक्त हैं, अतः छन्दांसि पद का कथन, चतुर्थ अथर्ववेद की उत्पत्ति का ज्ञापक है] ।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥
१०।७१।१॥

(बृहस्पते) हे बृहती वेदवाणी के पति ! (वाचः) वेदवाणी के (यत्) जिस (प्रथमम्) प्रख्यात तथा (अग्रम्) श्रेष्ठरूप को, और (नामधेयम्) पदसमूह को (दधानाः) निज हृदयों में धारण करते हुए [ऋषियों] ने (प्रैरत) [अन्य मनुष्यों के प्रति] इन्हें प्रेरित किया (तत्) उसे (प्रेणा) निज प्रेरणा द्वारा हे बृहस्पति ! तूने (एषाम्) इन [ऋषियों] के (गुहा) हृदयगुहाओं में (निहितम्) निहित तथा

(आविः) आविर्भूत किया। (यत्) क्योंकि (एषाम्) इन [ऋषियों] का (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठत्व और (यत्) क्योंकि (अरिप्रम्) इनका पाप से रहित होना (आसीत्) था।

[प्रथमम् = प्रथ प्रख्याने (भ्वादिः, चुरादिः)। अग्रम् = श्रेष्ठत्वम्। वाचः = वाक्यरूप अर्थात् संहितारूप वेदवाक्। नामधेयम् = वाक्यरूप अर्थात् संहितारूप वेदवाणी का पद समूह। अभिप्राय यह है कि संहितारूप वेदवाणी को तथा उसके पद-ज्ञान को ऋषियों ने युगपत् जाना और उसका प्रसार किया। "ऋषि" इसलिये कि निम्नलिखित मन्त्र (३) में इस द्विविधस्वरूप का सम्बन्ध ऋषियों के साथ वर्णित हुआ है। "प्रैरत" के साथ "अवरकाल" के मनुष्यों का सम्बन्ध नैरुक्त व्याख्या की दृष्टि से किया है। यथा "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यः, उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः, उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थम् (निघण्टुम्) समाम्नासिषुः"। वैदिक साहित्य के अनुसार ये ऋषि हैं, अग्नि, वायुः, आदित्य और अङ्गिरा]।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

१०।७१।२॥

(तितउना) छाननी द्वारा (इव सक्तुम्) जैसे सत्तु को (पुनन्तः) विशुद्ध करते हैं इस प्रकार (यत्र) जिस वाग्विषय के सम्बन्ध में, (धीराः) मेधावी उच्चारणकर्त्ता (मनसा) विचारपूर्वक (वाचम्) वाणी को विशुद्ध रूप में उच्चारित (अक्रत्) करते हैं, (अत्र) इन विशुद्ध उच्चारण करने वालों के सम्बन्ध में (सखायः[1]) मन्त्र, मित्र बनकर, (सख्यानि) मैत्रियों को (जानते) पहचान लेते हैं, क्योंकि (एषाम्) इन उच्चारण कर्त्ताओं की (वाचि अधि) वाणी में (भद्रा-लक्ष्मी) शुद्धोच्चारणरूपा भद्रा लक्ष्मी (निहिता) निहित होती है।

[अभिप्राय यह है कि मित्र जैसे अपने मित्र के प्रति निज रहस्यों तथा गोपनीय विचारों को निःशङ्क होकर प्रकट कर देता है, इसी

---

१. वेदमन्त्रों के सखिभाव के सम्बन्ध में देखो १०।७१।६॥

प्रकार वेदमन्त्र, मित्ररूप होकर, शुद्धोच्चारण करने वाले के प्रति, निज रहस्यार्थों को प्रकट कर देते हैं। अशुद्धोच्चारण होने पर मन्त्रार्थ विकृतरूप हो जाते हैं। एतत्सदृश भावनाएं मन्त्र (४) में भी प्रकट की गई हैं]।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥

१०।७१।३॥

(यज्ञेन) ध्यानयज्ञ द्वारा (वाचः) वेदवाणी के (पदवीयम्) पदों के ज्ञान को (आयन्) प्राप्त हुए, (ऋषिषु) और ऋषियों में (प्रविष्टाम्) प्रविष्ट हुई (ताम्) उस वेदवाणी को (अनु अविन्दन्) उन्होंने [रेभाः ने] प्राप्त किया। (ताम्) उस वेदवाणी को (आभृत्य) प्राप्त कर, या निज चित्तों में धारण कर उन्होंने (पुरुत्रा) विविध प्रदेशों में (व्यदधुः) स्थापित किया[२]। (ताम् सप्त) सप्तविध उस वाणी का (रेभाः) स्तावक (अभि) साक्षात् (संनवन्ते) मिलकर स्तवन करते हैं, उच्चारण करते हैं।

[मन्त्र से प्रतीत होता है कि वेदवाणी और उसके पदविभाग का ज्ञान—ये दोनों ऋषियों में प्रविष्ट थे। पदों का वर्णन मन्त्र (१) में "नामधेयम्" द्वारा हुआ है। "आयन् और अन्वविन्दन्" के कर्ता हैं "रेभाः"। सप्त द्वारा सप्तविध छन्दों से अन्वित वेदवाणी का कथन हुआ है। "पुरुत्रा" द्वारा विविध-प्रदेशों में वेदवाणी के प्रसार तथा प्रचार को सूचित किया है। आभृत्य=आहृत्य या आ+भृ=धारणे। रेभः स्तोतृनाम (निघं० ३।१६)]।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

१०।७१।४॥

---

२. भूतकाल के प्रयोग अनादि काल के कल्प कल्पान्तरों के व्यवहारों के सूचक हैं।

(उत) तथा (त्वः) एक (पश्यन्) देखता हुआ (वाचम्) वाणी को (न ददर्श) नहीं देखता, उसके अर्थ को नहीं जानता, (उत) तथा (त्वः) एक (शृण्वन्) वेदवाणी को सुनता हुआ (एनाम्) इस वाणी को (न शृणोति) नहीं सुनता, अर्थ ज्ञान न होने से मानों नहीं सुनता। (उत उ) तथा (त्वस्मै) एक के लिये (तन्वम्) निजरूप को विसस्रे) वेदवाणी प्रकट कर देती है (इव) जैसे कि (उशती) कामना वाली, (सुवासाः) उत्तम वस्त्र धारण की हुई (जाया) पत्नी (पत्ये) पति के लिये (तन्वं विसस्रे) निज तनू को ढीला कर देती है।

[मन्त्र (२) में उक्त "सखायः सख्यानि जानते" के अभिप्राय को इस मन्त्र (४) में प्रकट किया है]।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

१०।७१।६॥

(सचिविदं) सखिभाव को जानने वाले (सखायम्) वेदसखा को, (यः) जो (तित्याज) त्याग देता है [उसका सतत स्वाध्याय नहीं करता], (तस्य) उसका (वाचि अपि) वेदवाणी में भी (भागः) हिस्सा (न अस्ति) नहीं होता [वह वेदोक्त ज्ञानसम्पत्ति का हिस्सा प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होता], (यत् ईम् शृणोति) इस वेदवाणी को जो वह सुनता है (अलकम्=अलीकम्) वह मिथ्या ही (शृणोति) सुनता है, (नहि प्रवेद) वह ठीक रूप से नहीं जानता (सुकृतस्य) सुकर्मों के (पन्थाम्) मार्ग को।

[मन्त्र में सखा द्वारा वेद-सखा को सूचित किया है, देखो इसी सूक्त का मन्त्र २]।

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः॥

१०।७१।९॥

(इमे ये) ये जो (न अर्वाक्) न अवरा-विद्या में (न परः) न

पराविद्या में (चरन्ति) विचरते हैं, (ते) वे (न सुकरासः) उत्तम कर्म करने वाले नहीं होते, अतः (न ब्राह्मणासः) वे ब्राह्मण नहीं होते। (ते एते) वे ये (अप्रजज्ञयः) अज्ञानी (पापया) पापवृत्ति के कारण (सिरीः) हल वाले होकर (तन्त्रम्) कृषिकर्म का (तन्वते) विस्तार करते हैं।

[सुतेकरासः=सु, ते, करासः=ते सुकरासः। उपसर्ग और क्रियापद व्यवहित हैं "व्यवहिताश्च" (अष्टा० १।४।८२)। अप्रजज्ञयः=अ, प्र, ज्ञा (किः लिट्)। अपराविद्या और पराविद्या के प्रज्ञानी नहीं होते और वे असुकर्मी "ब्राह्मण" नहीं होते। उनके लिये कृषिकर्म है। अतः वैदिक दृष्टि में वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मानुसार है। सिरीः =सीरीः=हलवन्तः। सीरा=हल। न ब्राह्मणासः="ते न ब्राह्मणा भवन्ति" तथा "ते सीरिणो भूत्वा कृषिं कुर्वन्ति" (वेङ्कट माधव)]।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥

१०।७१।११॥

(त्वः) एक (ऋचाम्) ऋचाओं की (पोषम् पुपुष्वान्) पुष्टि को पुष्ट करता हुआ [उनका ठीक प्रकार उच्चारण करता हुआ] (आस्ते) यज्ञ में स्थित होता है, (त्वः) एक (शक्वरीषु) शक्तिप्रद ऋचाओं पर (गायत्रम्) गायत्र आदि सामगान (गायति) गाता है। (त्वः) एक (ब्रह्मा) ब्रह्मा (जातविद्याम्) कर्त्तव्यकर्म में ज्ञानप्रद-वाणी को (वदति) कहता है (उ त्वः) तथा एक (यज्ञस्य) यज्ञ की (मात्राम्) निर्माण क्रिया को (विमिमीते) करता है।

[मन्त्र में चार ऋत्विजों के चार भिन्न-भिन्न कर्म कहे हैं। चार ऋत्विक् क्रमशः होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु हैं। मन्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि चार ऋत्विजों सम्बन्धी वेद भी चार हैं। ब्रह्मा यदि चतुर्वेदविद् है, तो इसे ऋक्, साम, यजुः, तथा अथर्व,—इन चारों वेदों का ज्ञान अपेक्षित है, नहीं तो चतुर्थवेद अर्थात् अथर्ववेद [ब्रह्मवेद] का ज्ञाता तो यह सम्भावित हो है, अर्थापन्न ही है। अतः जिन विद्वानों का यह विचार है कि अथर्ववेद अर्वाक् काल का है—

यह भ्रमात्मक ही है। अन्यथा ऋग्वेद के उक्त मन्त्र में चार ऋत्विजों और उनके चार कर्मों की उपपत्ति नहीं हो सकती। अतः वेदों में जहां "त्रयी" पद का प्रयोग होता है वह त्रिविध रचना की दृष्टि से है, गद्य, पद्य और गीति की दृष्टि से, न कि वेदत्रय की दृष्टि से]।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥

४।५८।३॥

(अस्य) इस [वृषभ] के (चत्वारि शृङ्गा) चार सींग हैं, (त्रयः पादाः) तीन पाद हैं (द्वे शीर्षे) दो सिर हैं, (अस्य) इसके (सप्त-हस्तासः) ७ हाथ हैं। (त्रिधाबद्धः) तीन प्रकार से बंधा हुआ (वृषभः) वृषभ (रोरवीति) शब्द करता है, (महादेवः) यह महादेव [वेद] (मर्त्यान्) मनुष्यों में (आ विवेश) आ प्रविष्ट हुआ है।

[वेद को वृषभ कहा है, यह सदुपदेशों तथा सद्-ज्ञान की वर्षा करता है। इसके चार सींग हैं, ऋक्, यजुः, साम, अथर्व। इन सींगों द्वारा वेद पापकर्मों का विनाश करता है। तीन पाद हैं जिनके आधार पर वेदशरीर खड़ा है, वे हैं गद्य, पद्य और गीति रचनाएं। दो इसके सिर हैं, अभ्युदय और निःश्रेयसरूपी दो प्रतिपाद्यविषय। सात हाथ हैं सप्तविध छन्द। तीन प्रकार से यह बन्धा हुआ है, ज्ञान, कर्म, उपासना द्वारा। ज्ञान में विज्ञान अन्तर्गत है।

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

५।४४।१४॥

(यः) जो व्यक्ति (जागार) जागरूक अर्थात् सावधान रहता है (तम्) उसे (ऋचः) ऋचाएं (कामयन्ते) चाहती हैं (यः) जो (जागार) जागरूक अर्थात् सावधान रहता है (तम् उ) उसे ही (सामानि) सामगान (यन्ति) प्राप्त होते हैं। (यः) जो (जागार) जागरूक अर्थात् सावधान रहता है (तम्) उसे (अयम्) यह (सोमः) सौम्य स्वभाव वाला परमेश्वर (आह) कहता है कि (तव सख्ये) तेरी मैत्री में (न्योकाः) तेरे घर में (अहम् अस्मि) मैं हूं, नितरां निवास करता हूं।

[जागार=जो व्यक्ति वेदोक्त कर्मों के करने में सावधान रहता है वह वेदोक्त फलों को प्राप्त करता है। वे फल हैं "याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा (निरुक्त १।६।२०, ऋक् १०।७१।५ की व्याख्या में)। यज्ञज्ञानं पुष्पम् देवताज्ञानं फलम्। तथा देवताज्ञानं पुष्पम्; अध्यात्मज्ञानं अर्थात् स्वात्मपरमात्मज्ञानं फलम्। न्योका:—सौम्य-प्रकृतिक परमेश्वर सदा जागरूक के प्रति कहता है कि "तेरी मैत्री में मैं हूं और तेरे गृह अर्थात् हृदय में मेरा घर भी है, इसमें मैं नितरां निवास करता हूं। न्योका:=नि (नितराम्)+ओकः (अवति, रक्षण हेतुः भवति); (उणा० ३।४१, दयानन्द)। मन्त्र में ऋचः और सामानि का कथन हुआ है, यजुः और अथर्व० का नहीं। कारण यह कि मन्त्र भक्तिप्रधान है। भक्ति में परमेश्वराराधनार्थं भक्तिगान गाए जाते हैं, और वैदिक दृष्टि में भक्तिगान ऋक् और साम के मेल द्वारा निष्पन्न होते हैं। यथा—"ऋच्यध्यूढं साम गीयते। परन्तु ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्" (ऋक् १०।७१।११) में निरुक्त व्याख्यानुसार चारों वेदों का वर्णन है।

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभं।
अहं सूर्य इवाजनि॥ ८।६।१०॥

(अहम्, इत् हि) मैंने (पितुः परि) जगत् के या वेद के पिता से (ऋतस्य) सत्यज्ञान सम्बन्धी (मेधाम्) मेधा को (जग्रभ) प्राप्त किया है। (अहम्) मैं (सूर्य इव) सूर्य के सदृश (अजनि) दीप्यमान हो गया हूं।

[ध्यानी अनुभव कर रहा है कि परमेश्वर उसे सत्यभूत वैदिक ज्ञान प्रदान करता है]।

भक्तिरस, आनन्दरस, अमृतत्त्व

शर्य॒णाव॑ति॒ सोम॒मिन्द्रः॑ पिबतु वृत्र॒हा ।
बलं॒ दधा॑न आ॒त्मनि॑ करि॒ष्यन्वी॒र्यं॑ म॒हदिन्द्रा॑येन्दो॒ परि॑स्रव ॥
९।११३।१॥

(वृत्रहा) वृत्रों का हनन करने वाला (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (शर्यणावती) विशीर्ण होने वाले हृदय में, (सोमम्) हमारे भक्तिरस का (पिबतु) पान करे। (इन्दो) हे हृदय को आर्द्र अर्थात् सरस करने वाले भक्तिरस ! (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (परिस्रव) हृदय में और मेरे जीवन में सब ओर तू प्रवाहित हो जा। ताकि (महत्, वीर्यम्, करिष्यन्) महावीरता के कर्म को करने वाला इन्द्र अर्थात् परमेश्वर (आत्मनि) निज आत्मा में (बलं दधानः) बल धारण करे।

[जैसे सेनापति वृत्रों अर्थात् राष्ट्र का आवरण करने वाले शत्रु-दल के हनन के लिये, निज आत्मा में बल को धारण करता है, और शत्रु पराजयरूपी महाकर्म करता है। इसी प्रकार परमेश्वर भक्तिरस का पान कर, उपासक के पापवृत्र, तथा विघ्न बाधाओं का हनन करता है। मानों भक्तिरस के पान द्वारा परमेश्वर में बलाधान होता है। जो परमेश्वर के प्रति भक्तिरस का प्रदान नहीं करते, परमेश्वर उनके पापकर्म और विघ्नबाधाओं का हनन भी नहीं करता।

"शर्यणावति" शर्यणावद्ध वै नाम कुरुक्षेत्रस्य जघनार्धे सरः" (जै० ब्रा० ३।१४) (वेङ्कट माधव) अर्थात् शर्यणावत् नाम वाला सरस् अर्थात् तालाव कुरुक्षेत्र के जघनार्ध में निश्चय से है। जीर्ण-शीर्ण होने वाला तालाब है हृदय। कुरुक्षेत्र है कर्मक्षेत्र शरीर। इसके दो अर्ध भाग हैं (१) ग्रीवा से ऊपर, शिरोभाग (२) ग्रीवा से नीचे और टांगों से ऊपर का अर्धभाग, यह निचला अर्धभाग जघन्य है, कुत्सित है, मल-मूत्र वाला है। इस जघन्य अर्धभाग में हृदयरूपी सरस् है,

तालाब है। हृदय रक्तरूपी जल वाला सरस् है, तथा भक्तिरस वाला भी यह है। मोक्षावस्था में यह सरस् जीर्ण-शीर्ण हो जाता है अतः यह शर्यणावत् है, परन्तु मोक्षावस्था में भी शिरोभाग की शक्तियां सूक्ष्म शरीर के रूप में बनी रहती हैं।

इन्दोः[1]="उन्देरिच्चादेः" (उणा० १।१२)। उन्द धातोः "उ" प्रत्ययः आदिवर्णस्य इकारादेशश्च, उनत्ति आर्द्रीकरोति इति इन्दुः (दयानन्द)]।

आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात्सोम मीढ्वः।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥

९।११३।२॥

(मीढ्वः) हृदय को सींचने वाले, (सोम) उत्पन्न हे भक्तिरस! (दिशां पते) तथा हे मेरे शरीर की सब दिशाओं के पति! (आर्जीकात्) जीवनमार्ग को ऋजु कर देने वाले सत्यरूपी स्रोत से (आ पवस्व) तू मेरे सब ओर प्रवाहित होजा। (इन्दो) हे आर्द्र अर्थात् सरल कर देने वाले भक्तिरस! तू (ऋतवाकेन) सत्य का कथन करने वाली वेदवाणी [के स्वाध्याय] द्वारा (सत्येन) सत्यानुष्ठान द्वारा, (श्रद्धया) श्रद्धा द्वारा (तपसा) तप द्वारा (सुतः) उत्पन्न हुआ (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (परिस्रव) मेरे शरीर के सब ओर प्रवाहित होजा।

[मन्त्र १ में तो हृदय में भक्तिरस के प्रवाहित होने का वर्णन हुआ है। मन्त्र २ में "दिशांपति" द्वारा शरीर की सब दिशाओं में प्रवाहित होने का वर्णन हुआ है। शरीर की पूर्व दिशा में इन्द्रियां हैं, पश्चिम में सुषुम्णा के "ज्ञानतन्तु" तथा कर्मतन्तु हैं। ऊपर है मस्तिष्क

---

१. अथवा इन सब मन्त्रों में "इन्दु" द्वारा "मन" अभिप्रेत है। मन को चन्द्र कहा भी है। इन्दु भी चन्द्रमा है। यथा "मनश्चन्द्रो दधातु मे" (अथर्व० १९।४३।४)। वेदानुसार मन है संकल्प-विकल्पों का आश्रय। इन्दु अर्थात् मन को या मन के संकल्प-विकल्पों को इन्द्र के प्रति परिस्रुत अर्थात् परिवाहित कर देने की भावनाएं इन मन्त्रों में प्रकट की गई हैं। भक्तिरस भी मनोनिष्ठ होता है। उसे इन्द्र के प्रति परिस्रुत कर देना, मन्त्रों में विशेष अभिप्रेत है।

तथा सबसे नीचे हैं गतिकारक पैर। इन सबमें भक्तिरस का प्रवाह अभीष्ट[1] है। सोम और सुतः दोनों पद उत्पत्त्यर्थक हैं। आर्जीकात् = सत्य को ऋजु कहा है। यथा "तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीय:" (अथर्व० ८।४।१२)। ऋजुं करोति, इति ऋजुकः। स्वार्थ अण्=आर्जीकः, उकार स्थाने ईकारः छान्दसः, अर्थात् ऋजु के उकार को ईकार छान्दस है]।

प॒र्जन्य॑वृद्धं महि॒षं तं सूर्य॑स्य दु॒हि॒ताभ॑रत् ।
तं ग॑न्ध॒र्वाः प्रत्य॑गृभ्ण॒न्तं सोमे॒ रस॒माद॑धु॒रिन्द्रा॒येन्दो॒ परि॑स्रव ॥

९।११३।३॥

(पर्जन्यवृद्धम्) पर्जन्य अर्थात् "धर्ममेघ" समाधि द्वारा प्रवृद्ध हुए साक्षात्कृत हुए (तम्, महिषम्) उस महानात्मा को, (सूर्यस्य) सूर्य की (दुहिता) सूर्योत्पन्न सौर-प्रभा (आ अभरत्) ले आई। (तम्) उस महानात्मा को (गन्धर्वाः) सामगानधारण करने वाले उपासकों ने (प्रत्यगृभ्णन्) प्रतिग्रहरूप में स्वीकार कर लिया। (तम्) उस महानात्मा को (रसम्) आनन्दरसरूप को (सोमे) मन में (आदधुः) उन्होंने स्थापित कर दिया। (इन्दो) हे मेरे मनश्चन्द्र ! तू (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर के लिये (परिस्रव) समर्पित हो जा, तथा निजभक्तिरस को उसके प्रति परिस्रुत कर दे, परिवाहित कर दे।

[योगदर्शन ४।२९ में "धर्ममेघ" समाधि का वर्णन हुआ है। यथा "प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः"। यह "धर्ममेघ" समाधि, जीवन्मुक्त होने की चरमावस्था रूप है। इस अवस्था में चित्तवृत्तिनिरोधरूपी चैत्तधर्म, मानों मेघरूप में बरस रहा होता है। ऐसा परमयोगी प्रातःकालीन सौर-प्रभा के काल में जब ब्रह्मलीन होता है तब मानों यह सौर-प्रभा उसके चित्र में इस महानात्मा को प्रकट कर रही होती है। यही "आ अभरत्" का अभिप्राय है। इन परमयोगियों को "गन्धर्वाः" कहा है। ये गन्धर्व, साक्षात्कृत

---

१. अभिप्राय यह कि भक्तिरस का प्रवाह इतना होना चाहिए कि उपासक के जीवन में उसके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग में भक्तिरस की सत्ता अनुभूत हो।

महानात्मा को, उसके आनन्दरस रूप में, उपासक के "सोम" अर्थात् मन में आहित कर देते हैं। परमेश्वर आनन्दरसरूप है, जिसे पाकर उपासक आनन्दी हो जाता है। यथा "रसो वै सः, रसं ह्येष लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तै० उप० ब्रह्मा० वल्ली ७)]।

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् ।
श्रद्धां वदन्त्सोम राजन्धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥
९।११३।४॥

(ऋतद्युम्न) हे ऋत द्वारा द्युतिमान् ! (ऋतम्) ऋत अर्थात् परमेश्वरीय सत्यनियम का (वदन्) कथन करता हुआ तू, (सत्य-कर्मन्) हे सत्य का अनुष्ठान करने वाले ! (सत्यम् वदन्) सत्य का कथन करने वाला तू, (सोम राजन्) हे प्रकाशमान सोम ! सौम्य-स्वभाव वाले मन ! (श्रद्धाम् वदन्) श्रद्धा का कथन करता हुआ तू, (सोम) हे सोम ! सौम्यस्वभाव वाले मन ! (धात्रा) जगद्धारक परमेश्वर द्वारा (परिष्कृतः) तू परिष्कृत हो गया है, शोभायमान तथा पवित्र हो गया है, (इन्दो) हे मेरे सोम अर्थात् मन तू (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (परिस्रव) समर्पित हो जा।

["सोम" पद मन का वाचक है। जिसे कि इन्दु भी कहा है। ऋत=law and order, परमेश्वरीय नियम, जिन के द्वारा जगत् का शासन हो रहा है। मन्त्र में "सोम" द्वारा सोम ओषधि या सोम-रस का वर्णन नहीं। ये ऋत, सत्य और श्रद्धा का कथन नहीं कर सकते]।

सत्यमुग्रस्य बृहतः सं स्रवन्ति संस्रवाः ।
सं यन्ति रसिनो रसाः पुनानो ब्रह्मणा हर इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ९।११३।५॥

(सत्यम्) सत्य है कि (उग्रस्य) नियन्त्रण में उग्र, (बृहतः) महान् परमेश्वर के, (संस्रवाः) प्रवाही आनन्दरस (सं स्रवन्ति) प्रवाहित हो रहे हैं। (रसिनः) आनन्द रसवाले परमेश्वर के (रसाः) आनन्दरस (संयन्ति) सम्यक्तया गति कर रहे हैं। (ब्रह्मणा) ब्रह्म द्वारा (पुनानः) अपने को पवित्र करता हुआ तू (हर) अन्यों के कष्टों का अपहरण

कर और (इन्दो) हे मेरे मन या भक्तिरस ! तू (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (परिस्रव) समर्पित हो जा या परिवाहित हो जा।

[यन्ति=इण् (गतौ)+अन्ति (प्रथम पुरुष बहुवचन); इणो यण् (अष्टा० ६।४।८१) द्वारा यण् आदेश। उपासक निज जीवन में, उपास्य द्वारा दान में प्राप्त आनन्दरस के प्रवाहों का अनुभव कर रहा है, अतः प्रतिदानरूप में उपास्य के प्रति निज इन्दु को समर्पित करता है। यह उपासक और उपास्य में पारस्परिक आदान-प्रतिदान अर्थात् लेन-देन का व्यवहार है]।

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन् ।
ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

९।११३।६॥

(पवमान) हे पवित्र करने वाले ! (यत्र) जिस सत्संग में (ब्रह्मा) वेदों का विद्वान् (छन्दस्याम्) छन्दोमयी (वाचम्) वाणी को (वदन्) बोलता हुआ (सोमेन) और भक्तिरस द्वारा (आनन्दम्) आनन्द को (जनयन्) पैदा करता हुआ, (ग्राव्णा) विद्वत्संघ द्वारा (सोमे) निज भक्ति रस में (महीयते) महिमा अर्थात् प्रशंसा को प्राप्त होता है, वहां (इन्दो) हे मेरे इन्दु ! तू भी (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (परिस्रव) समर्पित हो जा और [परमेश्वर के प्रति] छन्दोमयी वाणी गा या उच्चारण कर।

[पवमान द्वारा परमेश्वर को सम्बोधित किया है। ग्राव्णा= विद्वत्संग द्वारा। यथा "विद्वांसो वै ग्रावाणः" (श० ब्रा० ३।९।३।४) पवमान=पूङ् पवने (भ्वादिः); पूञ् पवने (क्र्यादिः)]।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ९।११३।७॥

(यत्र) जहां (अजस्रम्) न क्षीण होने वाली (ज्योतिः) ज्योति है, (यस्मिन्, लोके) जिस लोक में (स्वः) सुख विशेष (हितम्) निहित है, (पवमान) हे पवित्र करने वाले परमेश्वर ! (तस्मिन्) उस

(अक्षिते) क्षीण न होने वाले (अमृते लोके) अमृत लोक में (माम् धेहि) मुझे स्थापित कर, एतदर्थ (इन्दो) हे मेरे मन! तथा भक्ति-रस! तू (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये समर्पित हो जा, तथा परमेश्वर के लिये प्रवाहित हो जा।

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।

यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥

९।११३।८॥

(यत्र) जहां (वैवस्वतः) विवस्वान्-निवासी, (राजा) जगत् का राजा [विद्यमान है], (यत्र) जहां (दिवः) द्युलोक का (अवरोधनम्) अवसान है, समाप्ति है। (यत्र) वा जहां (अमूः) वे (यह्वतीः) महती (आपः) जल हैं, (तत्र) वहां (माम्, अमृतम्) मुझ अमृत को [हे पवमान, मन्त्र ७] (कृधि) तू स्थापित कर। एतदर्थ (इन्दो इन्द्राय परिस्रव) अर्थ पूर्ववत्।

[वैवस्वतः=विवस्वान् है आदित्य। यथा "महो जाया विवस्वतो ननाश" (ऋ० १०।१७।१) इस पर निरुक्त है "रात्रिरादित्यस्य; आदित्योदयेऽन्तर्धीयते" (१२।१।१२)। अतः विवस्वान् है आदित्य। परमेश्वर है आदित्यनिवासी। यथा "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म (यजु० ४०।१७)। अतः "वैवस्वत" का अभिप्राय है "आदित्यनिवासी पुरुष, अर्थात् ओ३म्, "खम्" (आकाशवत् सर्वव्यापी) ब्रह्म। यह आदित्य निवासी ब्रह्म जगत् का राजा है। आदित्य द्वारा केवल हमारे सौर-परिवार का आदित्य ही न समझना चाहिये। द्युलोक में दृश्यमान जितने स्वप्रकाशी नक्षत्र-तारा हैं वे सब आदित्य हैं, जिनका निवासी पुरुष है, ओ३म्, खं, ब्रह्म। इन सब आदित्यों को सप्तवर्णी रंगों की दृष्टि से ७ विभागों में विभक्त किया गया है। इसलिये इन्हें "देवा आदित्या ये सप्त" (ऋ० ११४।३) में "सप्त आदित्याः" कहा है। इन सप्तविध आदित्यों में परमेश्वर व्यापक है, इसलिये वह समग्र जगत् का राजा है। अमृत हुआ जीवन्मुक्त योगी, इन आदित्यों में से किसी भी आदित्य में स्थित होने की अभिलाषा प्रकट करता है, क्योंकि किसी भी आदित्य में निवास कर आदित्यनिवासी पुरुष के सत्संग को वह प्राप्त हो जाता है। इस

प्रकार जीवन्मुक्त का निवास जगत् से बाहर न होकर जगत् के भीतर ही रहता है। दूसरा विकल्प है "यत्रावरोधनं दिवः" अर्थात् वह स्थान जहां द्युलोक का अवसान हो जाता है, समाप्ति हो जाती है। वह है द्युलोक की सत्ता से रहित "महाकाश"। इस महाकाश में केवल ब्रह्म की ही सत्ता है। जीवन्मुक्त यहां भी रहने का अभिलाषी है। यहां वह प्राकृतिक वस्तुओं के संग से सर्वथा पृथक् होकर केवल ब्रह्म का ही सत्संगी रहेगा।

तीसरा विकल्प है "यत्रामूर्यह्वतीरापः"। ये "यह्वतीः आपः" हैं "आकाशगङ्गा"। यह्वतीः का अर्थ हैं महतीः। यह्वः महन्नाम (निघं० ३।३)। आकाश गङ्गा यद्यपि द्युलोक का अङ्ग ही है। तो भी इसकी विशेषता यह है कि इसमें नाना निर्मीयमाण लोकलोकान्तरों की अनाविर्भूत अवस्था विद्यमान है। परमेश्वर का सत्संग तो जीवन्मुक्त मुक्ति पा कर, आकाशगङ्गा में भी पा सकता है। जीवन्मुक्त पार्थिव जीवन नहीं चाहता, इससे वह विरक्त हो चुका है, इसलिये वह अन्यत्र निवास चाहता है, जहां कहीं भी उसे परमेश्वर का सत्संग मिल सके]।

यत्रा॑नुका॒मं चर॑णं त्रिना॒के त्रि॑दि॒वे दि॒वः।
लो॒का यत्र॒ ज्योति॑ष्मन्त॒स्तत्र॒ माम॒मृतं॑ कृधीन्द्रा॒येन्दो॒ परि॑स्रव॥

९।११३।९॥

(दिवः) द्युलोक के (यत्र) जिस (त्रिदिवे) त्रिदिव् में, (त्रिनाके) या त्रिनाक में (अनुकामम्) कामनानुसार अर्थात् यथेच्छ (चरणम्) विचरना होता है, (यत्र) जहां (लोकाः) लोक (ज्योतिष्मन्तः) परमेश्वर की ज्योति वाले हैं, (तत्र) वहां (माम्, अमृतम्) मुझ अमृत हुए जीवन्मुक्त को (कृधि) [हे पवमान ! मन्त्र ७] तू स्थापित कर, एतदर्थ (इन्दो इन्द्राय परिस्रव), अर्थ पूर्ववत्।

[द्युलोक के तीन विभाग हैं, द्यौः, स्वः और नाक। यथा "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा। येन स्वः स्तभितं येन नाकः" (यजु० ३२।६)। इस मन्त्र में दिव् के तीन विभागों का कथन हुआ है, उग्रा द्यौः, स्वः और नाकः। सम्भवतः त्रिदिव् और त्रिनाक पर्यायवाची हैं, और

त्रिनाक का अर्थ है "तृतीयनाक" अर्थात् क्रमसंख्या में तीसरी संख्या का नाक। यजुर्वेद में "नाक" में साध्य मुक्तात्माओं की स्थिति कही है। ये साध्य हैं, योगसाधनों द्वारा सिद्ध मुक्तात्माएं। यथा "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" (यजुर्वेद ३१।१६)। इस मन्त्र में "नाकम्" पद द्वारा एक नाक की स्थिति दर्शाई है "त्रिनाक" की नहीं। "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" यह वैदिक विद्वानों को अभिमत है। वेदानुसार "सिर" है द्युलोक। यथा "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३)। सिर की खोपड़ी में मस्तिष्क है, और यह मस्तिष्क मस्तिष्करूप में एक होता हुआ भी त्रिविभक्त है। यथा (१) दाहिना गोलार्द्ध (Right Hemisphere), (२) बांया गोलार्द्ध (Left Hemisphere), (३) लघुमस्तिष्क (Cerebellum)। लघुमस्तिष्क दोनों गोलार्द्धों के नीचे की ओर लगा रहता है। सम्भवतः इस त्रि-विभक्त मस्तिष्क का प्रतिरूप, द्युलोक सम्बन्धी भाग विशेष हो, जिसे कि योग दर्शन के भाष्यकार व्यास ने "ब्राह्मः त्रिभूमिको लोकः" कहा है। "यथा योगः भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्" (३।२६)। "त्रिभूमिक को "लोकः" कह कर इसे "एक" भी माना है, और इसे ही "त्रिभूमिक" द्वारा त्रिविभक्त भी दर्शाया है]।

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

९।११३।१०॥

(यत्र) जहां (कामाः) अध्यातम अभ्युदय की कामनाएं हैं, (च निकामाः) और निःश्रेयस सम्बन्धी कामनाएं हैं। (यत्र) जहां (ब्रध्नस्य) बृहद्-ब्रह्म का (विष्टपम्) ताप-सन्ताप से विरहित स्थान है। (च) और (यत्र) जहां (स्वधा) आनन्दरसरूपी अन्न है, (च) और (तृप्तिः) सदा तृप्ति है, (तत्र) वहां (माम्, अमृतम्) मुझ जीवन्मुक्त को (कृधि) तू स्थापित कर, (इन्द्रायेन्दो परिस्रव), अर्थ पूर्ववत्।

[प्रार्थी अमृत हुआ अभी जीवन्मुक्त की अवस्था में है। वह परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि मुझे पार्थिव जीवन से मुक्त कर के

द्युलोक में किसी भी अभीष्ट स्थान में निवास प्रदान कर। इस निमित्त वह भिन्न-भिन्न स्थानों का कथन इन मन्त्रों में कर रहा है।

"कामाः निकामाः", योगी तीन प्रकार के होते हैं (१) विदेहाः, (२) प्रकृतिलयाः, (३) उपायप्रत्ययाः (योग १।१९;२०)। "विदेह" और "प्रकृतिलय" योगियों को कैवल्य की पूर्ण प्राप्ति नहीं होती। ये अल्पकाल तक मोक्षसुख का अनुभव कर, पुनर्जन्म धारण करते हैं। इन में "कामनाएं" तथा "निकामनाएं" बनी रहती हैं,अतः अभ्युदय और निःश्रेयसं को प्राप्ति के प्रति ये प्रह्वीभूत रहते हैं। "उपायप्रत्यय" योगी कामाः और निकामाः से रहित होते हैं जो कि "ब्रघ्नस्य विष्टपम्" के अधिकारी होते हैं। मन्त्र में "ब्रघ्न" पद द्वारा बृहद्-ब्रह्म अभिप्रेत है। उपायप्रत्यय योगी बृहद्-ब्रह्म को पा कर ताप-संताप से रहित हो कर, ब्रह्म के आनन्दरस को पा कर, आनन्दित रहते हैं। आनन्दरस को मन्त्र में "स्वधा" कहा है। यह इन परमयोगियों के लिये अन्न होता है, जो उन्हें सदा मिलता रहता है, और इसलिये वे सदा तृप्त रहते हैं। स्वधा अन्ननाम (निघं० २।७)। परमेश्वर को अन्न भी कहा है। यथा "अहमन्नम्, अहमन्नादः" (तै० उप० भृगुवल्ली ३; अनुवाक १०; कण्डिका ६)। परमेश्वर अन्न है। परमेश्वरीय आनन्दरसरूपी अन्न का आस्वादन ब्रह्मलीन योगी करते हैं। ये "कामाः" और "निकामाः" से रहित होते हैं, यतः ये निश्रेयस अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो चुके होते हैं]।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥
९।११३।११॥

(यत्र) जहां (आनन्दाः च) आनन्दों, (मोदाः च) और हर्षों, (मुदः) प्रसन्नताओं, (प्रमुदः) उल्लासों को (आसते) स्थिति है। (यत्र) जहां (कामस्य) कामना के (कामाः) काम्य पदार्थ मानो (आप्ताः) प्राप्त हो गये हुए हैं, अर्थात् जहां न कामना होती है, न काम्य पदार्थ; (तत्र) वहां (माम्, अमृतम्) मुझ अमृत को (कृधि) हे परमेश्वर! स्थापित कर। (इन्दो) हे मेरे इन्दु! (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये तू (परिस्रव) समर्पित हो जा, या प्रवाहित हो जा।

[इन मन्त्रों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अमृतत्व को प्राप्त योगी अभी जीवन्मुक्त अवस्था में शरीर धारण कर रहा है, और छूटने के पश्चात् प्राप्य स्थानों की अभिलाषा प्रकट कर रहा है]।

काण्ड ९। सूक्त ११४

य इन्दोः पवमानस्यानु धामान्यक्रमीत्।
तमाहुः सुप्रजा इति यस्ते सोमाविधन्मनः इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥
९।११४।१॥

(इन्दोः) चन्द्रमा के सदृश शीतल प्रकाश वाले,(पवमानस्य) और पवित्र करने वाले परमेश्वर के (धामानि) तेजों को (अनु) लक्ष्य करके (यः) जिस उपासक ने (ते) तेरे (मनः) मन को (अविधत्) बींध लिया है, उस पर विजय पा लिया है, (तम्) उसे (आहुः) कहते हैं कि यह (सुप्रजाः इति) उत्तम और प्रकृष्ट जन्म वाला है। (इन्द्राय इन्दो परिस्रव) अर्थ पूर्ववत्।

[जैसे शत्रु को बींध कर उस पर विजय पा ली जाती है, वैसे भक्तिविशेषरूपी-शर द्वारा परमेश्वर के मन को बींध कर, उसे स्वानुकूल कर लिया जाता है। यथा "प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरः तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः तत्फलं च भवति" (योग, ईश्वर-प्रणिधानाद्वा, १।२३) प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेष से झुका लिया गया ईश्वर, उस पर अनुग्रह करता है, केवल इच्छामात्र द्वारा। उस इच्छा से भी योगी को शीघ्र समाधि लाभ तथा उसके फल की प्राप्ति हो जाती है]।

ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः।
सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिरिन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥
९।११४।२॥

(ऋषे) हे ऋषि! (कश्यप) हे तत्त्वद्रष्टा योगी! (मन्त्रकृताम्) मन्त्रों द्वारा स्तुति करने वालों के (स्तोमैः) स्तुतिवचनों द्वारा, (गिरः) हमारी स्तुति वाणियों को, (उद् वर्धयन्) उत्कृष्टता में बढ़ाता हुआ

तू (सोमम्, राजानम्) सौम्य स्वभाव वाले जगत् के राजा को (नमस्य) नमस्कार किया कर, (यः) जो राजा (जज्ञे) मैं जानता हूं कि (वीरुधाम्) वीरुधों का (पतिः) स्वामी है। (इन्द्राय इन्दो परिस्रव) अर्थ पूर्ववत्।

[ऋषि और कश्यप द्वारा, मन्त्र (१) में वर्णित "सुप्रजाः" का निर्देश किया है, जिसने कि परमेश्वरीय धामों को लक्ष्य कर पग बढ़ाए हैं, उसे कहा गया है कि तू हमें निर्देश द्वारा हमारी स्तुति वाणियों को भी उत्कृष्ट कर, और स्वयं भी उसे भक्तिपूर्वक नमस्कार किया कर। वह वीरुधों का पति है जिन के भक्षण और सेवन द्वारा हम सब जीवित हो रहे हैं। कश्यप=पश्यतीति कश्यपः, "क" और "प" का विपर्यास छान्दस है। "मन्त्रकृताम्" में मध्यपदलोपी समास है, "मन्त्रैः स्तुतिं कृताम्"। अभिप्राय यह कि मन्त्रों द्वारा स्तुति करने वालों की स्तुतियां जैसे उत्कृष्ट होती हैं, तदनुसार हमारी स्तुति वाणियों को भी तू उत्कृष्ट कर। तुझ से एतदर्थ=इसलिये प्रार्थना है यतः तू ऋषिकोटि का तथा तत्त्वद्रष्टा हो चुका है]।

स॒प्त दिशो॒ नाना॑सूर्याः स॒प्त होता॑र ऋ॒त्विजः॑।
दे॒वा आ॑दि॒त्या ये स॒प्त तेभिः॑ सोमा॒भि र॑क्ष न॒ इन्द्रा॑येन्दो॒ परि॑स्रव ॥ ९।११४।३॥

(सप्त) ७ छन्द हैं (दिशः) जीवनचर्या के निर्देशक, (नानासूर्याः) द्युलोक में दृश्यमान सूर्य नाना हैं, असंख्यात हैं, (सप्त होतारः) सात होता हैं [५ तन्मात्राएं, अहंकार और महत्तत्त्व], (ऋत्विजः) जो कि जीवन यज्ञ के ऋत्विक् हैं। (देवाः) स्वतः द्योतमान (ये) जो (सप्त आदित्याः) ७ आदित्य हैं—(तेभिः) उन सब द्वारा (सोम) हे सौम्य-स्वभाव वाले परमेश्वर! (नः) हमारी (अभि रक्ष) रक्षा कर, (इन्द्राय इन्दो परिस्रव) अर्थ पूर्ववत्।

["नानासूर्याः" में "सूर्याः" और "आदित्याः", ये भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु ये पर्यायवाची हैं। यह दर्शाने के लिये कि द्युलोक में स्वतः प्रकाशी नक्षत्र-तारा नाना हैं, असंख्यात है, इन्हें "सूर्याः" कहा है। इस लिये ऋग्वेद में सूर्य को भी नक्षत्र कहा है। यथा "अग्ने

नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि। दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः" (ऋ० १५६।४) परन्तु ये स्वतःप्रकाशी सूर्य रंगों की दृष्टि से ७ प्रकार के हैं, यह भेद दर्शाने के लिये सूर्याः और आदित्याः का निर्देश भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा किया है। वर्षाकाल में "इन्द्रधनुष" में ७ रंगों की ७ पट्टियां दृष्टिगोचर होती हैं। द्युलोकस्थ सूर्य भी इन रंगों में सप्तविध हैं, जिन्हें कि "सप्त आदित्याः" कहा है]।

यत् ते राजञ्छृतं हविस्तेन सोमाभि रक्ष नः।
अरातीवा मा नस्तारीन्मो च नः किं चनाममदिन्द्रायेन्दो परि-
स्रव॥ ९।११४।४

(राजन्) हे जगत् के राजा! (ते) तेरी (यत्) जो (शृतम्) परिपक्व (हविः) हवि है, (तेन) उस द्वारा (सोम) हे सौम्य स्वभाव वाले राजा! (नः अभिरक्ष) हमारी तू रक्षा कर। (अरातीवा) अदान-भावना वाला शत्रुभूत मन, (नः मा तारीत्) हम पर प्रबल न हो, (च) और (मा उ, नः किंचन) न कोई रोग हमें (आममत्) रुग्ण करे। (इन्द्राय इन्दो परिस्रव) अर्थ पूर्ववत्।

[शृतं हविः=अभ्यास द्वारा परिपक्व हविः है "परिपक्व भक्ति-रस"। परमेश्वर के प्रति इसे भेंट करने पर परमेश्वर सौम्यस्वभाव से हमारी रक्षा करता है। भक्तिभाव भीनी उपासना में अराती=अराति, अर्थात् अदान भाव तथा रोग अन्तरायरूप होते हैं। परमे-श्वर के प्रति भक्तिरस न देना "अराति" भावना है। तारीत्, तरः बलनाम (निघं २।९)। आममत्=अम रोगे (चुरादिः)]।

प्रत्याहार, योगाभ्यास, योगविभूति

भद्रं नो अपि वातय मनः ॥ १०।२०।१॥

हे परमेश्वर ! (नः[1]) हमारे (मनः) मनों को (भद्रम्) कल्याण की ओर (वातय) प्रेरित कर।

[परमेश्वर के अनुग्रह से मन कल्याणमार्गानुगामी हो जाता है। अतः इस सम्बन्ध में परमेश्वरोपासना करनी चाहिए। मन की चञ्चलता परमेश्वरोपासना में बाधक होती है। एतदर्थ अध्यात्मगुरुओं की भी कृपा की आवश्यकता होती है जिससे मन स्थिर होकर इधर-उधर के विषयों में भटकता न रहे। यथा—

यत् ते भूमिं चतुर्भृष्टिम् मनो जगाम दूरकम् ।
तत् त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ १०।५८।३॥

(यत्) जो (ते मनः) तेरा मन (चतुर्भृष्टिम्) चारों ओर से झुकी हुई (भूमिम्) भूमि को लक्ष्य करके (दूरकम्) दूर-दूर के विषयों की ओर (जगाम) जाता है, (ते) तेरे (तत्) उस मन को (इह) यहां, इस शरीर में (क्षयाय) निवास के लिये (जीवसे) और जीवन के लिये, (आवर्तयामसि) हम लौटाते हैं। "आवर्तयामसि"=मन का आवर्तन प्रत्याहार[2] योगाङ्ग है।

---

१. नो मनः=हम बहुत हैं परन्तु मन एक। प्रत्येक में मन अलग-अलग होता है। परन्तु मानसिक भावनाएं और विचार जब एक सदृश हो जाते हैं तो सब के मन मानों एक हो जाते हैं, एकमत हो जाते हैं। इसे ही कहा है "समानं मनः सहचित्तमेषाम्"। इस प्रकार मनों की एकता में सामाजिक और राष्ट्रिय जीवन अधिक सुखी हो जाते हैं। प्रकरणानुसार मनों की एकता कल्याणमार्गी है।

२. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः (योग २।५४)।

[मन को लौटाने का कथन अध्यात्मगुरुओं का है। अध्यात्मगुरु निज शिष्य पर कृपा कर, उसके चित्त में ज्योति का जागरण कर देते हैं, इस ज्योति पर ध्यान को अवस्थित करने से चित्त में स्थिरता पैदा हो जाती है, और जीवन सुखी हो जाता है। "चतुर्भृष्टि" द्वारा भूमि की गोलाकृति सूचित की है। जो कि चारों ओर से झुकी हुई है। गोल वस्तु चारों ओर से झुकी हुई होती है]।

यत् ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम्।
तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ १०।५८।१०॥

जो तेरा मन इस समग्र-जगत् को लक्ष्य करके दूर-दूर के विषयों की ओर जाता है, तेरे उस मन को यहां, इस शरीर में, निवास के लिये, और जीवन के लिये हम लौटाते हैं।

यत् ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्।
तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ १०।५८।१२॥

जो तेरा मन भूत और भविष्यत् को लक्ष्य करके दूर-दूर के विषयों की ओर जाता है, तेरे उस मन को यहां अर्थात् इस शरीर में निवास के लिये, और जीवन के लिये हम लोटाते हैं।

[भूतम् और भव्यम् द्वारा विषयों की कालिक दूरता दर्शाई है। मन तो चञ्चल है, वह कालिक दूर-दूर के विषयों में भटकता है। उसे स्थिरवृत्तिक कर जीवन को सुखी करने का वर्णन इन मन्त्रों में हुआ है]।

योगाभ्यास

उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥ ८।६।२८॥

(गिरीणाम्) पर्वतों के (उपह्वरे) समीप अर्थात् मध्यवर्त्ती घाटी में, या (नदीनाम्, च, संगथे) नदियों के संगम में, (विप्रः) सर्वत्र परिपूर्ण इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (धिया) ध्यानयोग द्वारा (अजायत) प्रकट हो जाता है।

[ऋग्वेद के प्रकरणानुसार "इन्द्र" द्वारा परमेश्वर का वर्णन मन्त्र में अभीष्ट है। इन्द्र द्वारा इन्द्रियों के अधिष्ठाता का वर्णन भी समझा जा सकता है। पर्वतों के उपह्वर में, तथा नदियों के संगम में, "धिया" अर्थात् प्रज्ञा द्वारा, तथा योगानुरूप कर्मयोग द्वारा व्यक्ति, विप्र अर्थात् मेधावी हो जाता है,—यह अर्थ भी उपादेय प्रतीत होता है। धीः प्रज्ञानाम; तथा कर्मनाम (निघं० ३।९; २।१)। उपह्वरे=उप (समीप)+ह्वृ (कौटिल्ये, भ्वादिः), पर्वतों के समीप अर्थात् मध्यवर्ती घाटी वक्ररूप में फैली होती है। अतः यह घाटी उपह्वर द्वारा अभीष्ट है। विप्रः=परमेश्वरः; वि+प्रा (पूरणे, अदादिः); तथा विप्रः मेधाविनाम (निघं० ३।१५)। योगसम्बन्धी कर्म हैं यम-नियम आदि आठ योगाङ्ग, और योगसम्बन्धी प्रज्ञा है ऋतम्भरा प्रज्ञा आदि (योग १।३५,३६,४८)॥

योगविभूति

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद् देवासो अविक्षत॥ १०।१३६।२॥

(मुनयः) मुनि लोग (पिशङ्गा, मला) पीले और न चमकीले वस्त्र (वसते) धारण करते हैं, (वातरशनाः) और वायु की रस्सी वाले हुए (वातस्य) वायु की (ध्राजिम् अनु) गति के अनुसार (यन्ति) [अन्तरिक्ष में] गति करते हैं, (यद्) जहां कि (देवासः) कान्ति वाली सूर्यरश्मियां (अविक्षत) प्रवेश करती हैं जहां सूर्य-चन्द्रादि दिव्य पदार्थ प्रवेश पाए हुए हैं।

[पिशङ्गा, मला=पिशङ्गानि, मलानि। अथवा गेरुए [Reddish Brown] वस्त्र धारण करते हैं। रशना=Rope, cord (आप्टे)। अर्थात् वायु पर मुनि लोग, वायुरूपी रस्सी द्वारा, आरोहण करते हैं। ध्राजिः=ध्रज ध्रजि गतौ (भ्वादिः)। देवासः=रश्मयः (वेङ्कट माधव]।

उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ॥ १०।१३६।३॥

(मौनेयेन) मुनिभाव के कारण (उन्मदिताः) उद्धर्षित हुए (वयम्) हम, (वातान्) वायु के नाना स्तरों पर (आ तस्थिम) आ-स्थित हुए हैं। (मर्तासः) हे मर्त्यजनो ! (यूयम्) तुम (अस्माकम्) हमारे (शरीरा=शरीराणि) शरीरों को (इत्) ही (अभि) साक्षात् (पश्यथ) देखते हो [हमारी योगशक्तियों को नहीं]।

[मर्त्यजन मुनियों को वायुओं के नाना स्तरों में स्थित हुए आश्चर्य करते हैं कि ये किस प्रकार वायुओं पर जा स्थित हुए हैं। उन्हें मुनि कहते हैं कि तुम हमारे शरीरों को देख कर आश्चर्य तो करते हो, परन्तु तुम हमारी योगशक्तियों को नहीं देख सकते, जिन के कारण हम वातारूढ़ होते हैं]।

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत ।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः ॥१०।१३६।४॥

(मुनिः) मुनि, (विश्वा रूपा=विश्वानि रूपाणि) सब रूपों को, जो कि (अव) नीचे भूमि के हैं, (चाकशत्) देखता हुआ, (अन्त-रिक्षेण) अन्तरिक्ष के साथ-साथ (पतति) गति करता है। वह (देवस्य देवस्य) प्रत्येक दिव्यगुणी के (सौकृत्याय) सुकर्मों में सहायता के लिये (हितः सखा) हितकारी सखा है।

[पतति=पत गतौ (चुरादिः, भ्वादिः)। चाकशत्=देखता है। अव=नीचे के सब रूप=जल, स्थल, पर्वत, समुद्र, नदियां, नगर, ओषधि वनस्पतियां आदि]।

वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः ।
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः ॥ १०।१३६।५॥

(मुनिः) मुनि (वातस्य अश्वः) वायु सम्बन्धी अश्व है, (अथः) और (वायोः सखा) वायु का सखा है, (देवेषितः) परमेश्वर-देव द्वारा प्रेषित अर्थात् प्रेरित होता है। (उभौ) दोनों (समुद्रौ) समुद्रों में (आ क्षेति) आ कर निवास करता है (यः च) जो कि (पूर्वः) पूर्व समुद्र है, (उत) और जो (अपरः) दूसरा है, पश्चिम समुद्र है।

[मुनि वायु में उड़ता सा जाता [पतति] है, मानो वह वायु सम्बन्धी अश्व है। चतुष्पाद् अश्व पृथिवी सम्बन्धी अश्व होते हैं वायु सम्बन्धी नहीं। वह मानों वायु का सखा है, अतः वायु उसे भूशायी नहीं करती। योग द्वारा प्राप्त शक्ति से वह वायु में अश्व के सदृश शीघ्र गमन करता है। वह पूर्व और पश्चिम के समुद्रों पर आ निवास करता है, उन के जलों पर निवास करता है, योग द्वारा शरीर के हल्के हो जाने से। लघिमा अर्थात् हल्का हो जाने पर "आकाश-गमन" भी होता है (योग, विभूतिपाद ४२)। तथा उदान वायु पर विजय पाने से जल आदि के साथ असङ्ग-शक्ति भी प्राप्त हो जाती है (योग, विभूतिपाद ३९)। क्षेति=क्षि निवासगत्योः तुदादिः)। अथवा "अपरः"=उत्तरः समुद्रः। "स पूर्वस्मादेति, उत्तरं समुद्रम्" (ब्रह्मचर्य सूक्त (अथर्व० ११।७।६); उत्तर समुद्र=उत्तर ध्रुवीय समुद्र]।

अ॒प्स॒रसां॑ गन्ध॒र्वा॒णां॑ मृ॒गाणां॒ चर॑णे॒ चर॑न् ।
के॒शी केत॑स्य वि॒द्वान्त्सखा॑ स्वा॒दुर्म॒दिन्त॑मः ॥ १०।१३६।६॥

(अप्सरसां, गन्धर्वाणां, मृगाणाम्) अप्सराओं, गन्धर्वों और मृगों के (चरणे) विचरने के स्थानों में (चरन्) विचरता हुआ, (केतस्य विद्वान्) सम्यक्-ज्ञान का ज्ञाता, (केशी) केशधारी, (सखा) सब का सखा मुनि, (स्वादुः) उत्तम भोजन का अदन करता या बोलने में मीठा, तथा (मदिन्तमः) अति हर्ष वाला अर्थात् सदा प्रसन्न रहता है।

[गन्धर्वाः=अग्निः, सूर्यः, चन्द्रमा, वातः, यज्ञः, मनः।
अप्सरसः=ओषधयः, मरीचयः, नक्षत्राणि, आपः, दक्षिणा, ऋक् सामानि॥ यजु० १८।३८-४३॥]

वा॒युर॑स्मा॒ उपा॑मन्थत् पि॒नष्टि॑ स्मा कुनन्न॒मा ।
के॒शी वि॒षस्य॒ पात्रे॑ण॒ यद्रु॒द्रेणापि॑बत् स॒ह ॥ १०।१३६।७॥

(वायुः) वायु ने (अस्मै) इस मुनि के लिये (उपामन्यत्) मानो मन्थ अर्थात् मट्ठा तय्यार किया और (कुनन्नमा=कुनतनमा) कठिनता से नत अर्थात् नम्र किये जा सकने वाले अन्न को नम्र करने

वालो विद्युत् ने (पिनष्टि' स्म) पीसा, (यत्) जब कि (विषस्य) जल के (पात्रेण) पीने वाले (रुद्रेण सह) रुद्र के साथ (केशी अपिवत्) मुनि ने जल पिया।

[मुनि जब अप्सराओं और गन्धर्वों के स्थानों में विचरता है तब उस के खाने-पीने के द्रव्य क्या होते हैं, और उन्हें कौन देता है,—इस का वर्णन मन्त्र में हुआ है। मानो प्रवाहित होती हुई वायु इस के लिये मट्ठा विलोड़ती है, यह जलीय फेन है। तथा विद्युत् इसके लिये कठिनता से पीसे जाने वाले अन्न को पीसती है। यह अन्न है ओले। रुद्र अर्थात् ग्रीष्म काल का तपा सूर्य जब सामुद्रिक जल का पान करता है तब मानो मुनि, उस का साथी होकर, उस के साथ जल-पान करता है। "नमः अन्ननाम" (निघं० २।७)। मन्त्र में वर्षा कालिक, मुनि के अन्तरिक्ष विचरण का वर्णन है। साथ ही मुनि भोजन का निर्देश भी किया है। यथा मट्ठा, स्वादु पिसा अन्न तथा शुद्धजल। कुनन्नमा=कुनत्+नमा (नमः अन्ननाम)।

---

१. विद्युत् की कड़क तथा मेघगर्जन मानो अन्न पीसती हुई चक्की का शब्द हैं।

वरुण वसिष्ठ संवाद

प्र शुन्ध्युवं वरुणाय प्रेष्ठां मतिं वसिष्ठ मीळ्हुषे भरस्व ।
य ईमर्वाञ्चं करते यजत्रं सहस्रामघं वृषणं बृहन्तम् ॥

७।८८।१॥

(वसिष्ठ) हे प्राणाभ्यासिन् ! (मीळ्हुषे) सुखवर्षी (वरुणाय) वरुण के लिये (शुन्ध्युवम्) शुद्ध करने वाली[1], (प्रेष्ठाम्) अतिप्रिय[1] (मतिम्) मनन पूर्वक की गई स्तुति को (प्रभरस्व) भेंट रूप में ला। (यः) जो वरुण कि (ईम्) इस (यजत्रम्) निज संगति द्वारा त्राण करने वाले, (सहस्रामघम्) हजारों धनों के दाता, (वृषणम्) वर्षा-कारी (बृहन्तम्) सौरमण्डल में सबसे बड़े सूर्य को (अर्वाञ्चम्) हमारे अभिमुख (करते) करता है।

[वसिष्ठ=बृहदारण्यक उपनिषद अ० ६, कण्डि० ७-१४); में इन्द्रियों और प्राण में परस्पर स्पर्धा का वर्णन हुआ है कि हममें से कौन वरिष्ठ है। एक-एक इन्द्रिय ने अपनी-अपनी वरिष्ठता दर्शाने के लिए शरीर को त्यागा, परन्तु शरीर तब भी सजीव बना रहा। परन्तु प्राण जब शरीर को त्यागने लगा तो शरीर और इन्द्रियां भी निश्चेष्ट होने लगी, तब इन्द्रियों ने प्राण को वसिष्ठ अर्थात् वास में सर्वश्रेष्ठ कहा तथा (यजु० १३।५४)। इस सन्दर्भ में प्राण को वसिष्ठ कहा है। व्याख्येय सूक्त में वरुण अर्थात् वरणीय परमेश्वर तथा वरणकर्त्ता प्राणाभ्यासी व्यक्ति का वर्णन हुआ है। वरणकर्त्ता व्यक्ति प्राणाभ्यासी है, जो प्राणायाम कि योगाङ्ग है। इस दृष्टि से मन्त्र (१) में वसिष्ठ का अर्थ प्राणाभ्यासी किया है। यजत्रम्=यज संगतिकरणे +त्र=त्राण करने वाला। सूर्य निज संग द्वारा प्राणियों का त्राण

---

१. स्तुति मन और बुद्धि को शुद्ध कर आचार को भी शुद्ध पवित्र करती है। ऐसी स्तुति परमेश्वर को प्रिय है।

करता है। सूर्य के कारण ही सब प्रकार की भौम सम्पत्तियां हमें प्राप्त हो रही हैं, अतः वह सहस्रामघ है। परमेश्वर की स्तुति मन बुद्धि आदि को शुद्ध[1] करती है, और यह स्तुति परमेश्वर को प्रिय है, क्योंकि इस के द्वारा स्तोता शुद्ध होकर सुखी होते और मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। प्रभरस्व=प्र+हृ (हरणे)=ला। "हृग्रहोर्भः छन्दसि" द्वारा "हृ" के "ह" को "भ" हुआ है]।

अधा न्वस्य संदृशं जगन्वानग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि।
स्वर्यदश्मन्नधिपा उ अन्धोऽभि मा वपुर्दृशये निनीयात्॥

७।८८।२॥

(अध) तदनन्तर (नु) निश्चय से (अस्य) इस वरुण के (संदृशम्) सम्यक् दर्शन को (जगन्वान्) मैं प्राप्त हुआ हूं, (अग्नेः) अग्निवत् प्रकाशमान (वरुणस्य) वरणीय परमेश्वर के (अनीकम्) स्वरूप की (मंसि) मनन पूर्वक मैं स्तुति करता हूं। (अश्मन्) धर्ममेघ समाधि में (स्वः) सुखदायक (अन्धः) भक्तिरसरूपी पेय अन्न का (यत्) जब (अधिपाः) वरुण अधिकतया पान करता है, तब वह (दृशये) दर्शन के लिये (मा अभि) मेरे प्रति (वपुः) निज स्वरूप को वह (निनीयात्) लाता है, प्रकट करता है।

[अध=तदनन्तर अर्थात् मननपूर्वक स्तुति भेंट करने के पश्चात् (मन्त्र १)। अश्मन्=अश्मा मेघनाम (निघं० १।१०)। स्तुति-प्रकरण में अश्मा अर्थात् मेघ है, "धर्ममेघसमाधि", यथा "प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः" योग (४।२९)। स्वः अन्धः=सुखदायक=भक्तिरसरूपो पेय अन्न उपासक को भी सुखदायी है और उपास्य को भी]।

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम्।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम्॥

७।८८।३॥

(यत्) जब (वरुणः) वरुण (च) और मैं उपासक (नावम्) नौका पर (आ रुहाव) हम दोनों आरोहण करते हैं, (यत्) और

1. द्र० पिछले पृष्ठ पर टिप्पणी सं० १।

जब (समुद्रम्, मध्यम्) मध्य में समुद्र में (प्र ईरयाव) हम दोनों नौका को प्रेरित करते हैं, (यद्) और जब (अपाम्) सामुद्रिक जलों (अधि) में (स्नुभिः) प्रस्रवित हुई तरंगों के साथ-साथ (चराव) हम दोनों विचरते हैं, तब मानो (शुभे) इस शोभायमान अवस्था में (प्रेङ्खे) झूले में (कम्) सुखपूर्वक (प्र ईङ्खयावहै) हम दोनों हिलोरे ले रहे होते हैं।

[समुद्र है हृदय-समुद्र, यथा "हृद्यात् समुद्रात्" (यजु० १७।९३)। हृदय में प्रवाहित भक्तिभरे स्तुतिमन्त्र हैं, नौका। स्तुतिमन्त्रों में उमड़ा भक्तिरस है, तरङ्गें। नौका के संचालक हैं वरुण और उपासक। यदि वरुण की उपस्थिति नहीं तो स्तोता स्तुति किसकी करेगा, और यदि स्तोता नहीं तो स्तुति कौन करेगा। अतः मन्त्रसमूहरूपा नौका के संचालन में, नौका में दोनों की उपस्थिति अपेक्षित है]।

वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषिं चकार स्वपा महोभिः।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन्यादुषासः॥
७।८८।४॥

(वरुणः) वरुण ने (ह) निश्चय से (वसिष्ठम्) प्राणायामरूपी वसु वाले या प्राणाभ्यासी उपासक को (नावि) नौका में (आ अधात्) स्थापित किया, और (स्वपाः) इस शोभन कर्म को करने वाले वरुण ने (महोभिः) निज महिमाओं तथा तेजों द्वारा (ऋषिम्, चकार) उसे ऋषिकोटि का कर दिया। (विप्रः) धर्म का बीज बोने वाले वरुण ने (अह्नाम्) दिनों में से (सुदिनत्वे) एक शुभ दिन में (स्तोतारम्) स्तोता वसिष्ठ को ऋषि किया, (यात् नु) जब से (द्यावः) द्युतिमान् नक्षत्र-तारा (ततनन्) द्युलोक में विस्तृत हुए हैं, (यात्) और जब से (उषासः) उषाएं विस्तृत हुई हैं [तब से वरुण की यह कृति रही है, अर्थात् ऋषि बनाने की कृति]।

[नावि (मन्त्र ३ की व्याख्या) वरुण की कृपा द्वारा व्यक्ति प्राणायामाभ्यासी होता तथा स्तुतिरूपी नौका में स्थित होता है, वरुण की कृपा के बिना व्यक्ति स्तुति में भी प्रवृत्त नहीं होता। व्यक्ति ऋषि भी होता है वरुण की महिमा तथा उसके तेजों द्वारा। यथा

"यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्" (अथर्वं० ४।३०।३)। विप्रः=वपति धर्मम् (उणा० २।२९ दयानन्द) धर्म का बीज बोने वाला वरुण। वरुण की कृपा द्वारा ही व्यक्ति धर्म-कर्म में प्रवृत्त होता है। जब से नक्षत्र-तारा तथा उषाएं फैले तथा चमकी हैं तब से वरुण का यह काम चलता आ रहा है]।

क्व१॒ त्यानि॑ नौ स॒ख्या ब॑भूवु॒ः सचा॑वहे॒ यद॑वृ॒कं पु॒रा चि॑त्।
बृ॒हन्तं॒ मानं॑ वरुण स्वधावः स॒हस्र॑द्वारं जगमा गृ॒हं ते॑॥
७।८८।५॥

(क्व) कहां (नौ) हम दोनों के (त्यानि) वे (सख्या) सखिभाव (बभूवुः) हो गए, चले गए, (यद्) जबकि (पुराचित्) पहिले की तरह (अवृकम्) विना विच्छेद भाव के (सचावहे) हम दोनों साथ-साथ रहेंगे[1]। (स्वधावः) निज उपासकों के धारण पोषण करने वाले (वरुण) हे वरुण! जब कि (बृहन्तम्, मानम्) महान् और परिमाण वाले, (सहस्रद्वारम्) तथा हजार द्वारों वाले (ते गृहम्) तेरे घर में (जगम) हम दोनों पहुंच गए थे।

---

१. इस भावना का प्रदर्शक निम्न मन्त्र भी है। यथा "क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः। अलर्षि युध्म खजकृत् पुरंदर प्र गायत्रा अगासिषुः" ।।८।१।७

तू कहां चला गया, इस समय तू कहां है, तेरा मन बहुत [उपासकों] में है। शीघ्रता कर, हे योद्धा! हे मथन करने वाले! हे पुरों को विदारित करने वाले! सामगान करने वाले उपासकों ने प्रकृष्ट सामगान किया है [तेरे आह्वान के लिये]।

उपासक की उपासना में अन्तराय हो जाने पर परमेश्वर उपासक को निज दर्शन से वञ्चित कर देता है। तब उपासक विलापपूर्वक कहता है कि "तू कहां चला गया, और अब कहां हैं" इत्यादि। "उपासक कहता है कि तू तो योद्धा है, और अन्तरायों का मथन करने वाला है, उपासकों के शरीररूपी पुरों को विदीर्ण करने वाला है, मोक्ष देने वाला है, आ, पुनः आ जा, सामगान के गायकों ने तेरे प्रसादनार्थ सामगान किया है। अलर्षि=अर्तेः चर्करीतम् (वेंकट माधव)। खज=खञ्ज मन्थे (भ्वादिः)।

[जगम=मैं पहुंचा था या हम दोनों पहुंचे हुए थे। जगम= गच्छाव:(वेंकट माधव)। मन्त्र वर्णन से प्रतीत होता है कि वसिष्ठ के किसी पाप के कारण उसे वरुण ने निज दर्शन से वञ्चित कर दिया है। एतदर्थ देखो "आगांसि, तथा एनस्वन्त:" (मन्त्र ६)। इस पाप के कारण दर्शनाभाव में वसिष्ठ का विलाप मन्त्र में हुआ है। "परन्तु "आगांसि और एनस्वन्त:" में "पाप"—आचरण सम्बन्धी नहीं, अपितु योगप्रोक्त अन्तरायों को मन्त्र में "आगांसि और एनस्वन्त:" कहा प्रतीत होता हैं। अन्तराय (योग १।३०), इन अन्तरायों को "चित्तविक्षेपा:" कहा है, यथा—व्याधि, स्त्यान [चित्त की अकर्मण्यता] संशय, प्रमाद, आलस्य, अवैराग्य आदि ये अपराध रूप हैं। क्योंकि यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि जो ऋषि पदवी को प्राप्त हो गया है(मन्त्र ४), वह दुराचारी हो गया हो। "सहस्रद्वार-गृह" है हृदय। हृदय की ओर जाने वाली सिराएं अर्थात् Veins हजारों हैं, ये ही हजारों द्वार हैं, जिनके द्वारा हृदय में पहुंचा जा सकता हैं। सिराओं की गति हृदय की ओर होती है, और धमनियों की गति हृदय से शरीर की ओर।

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन् त्वामागांसि कृणवत्सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन्भुजेम यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्॥
७।८८।६॥

(वरुण) हे वरुण! (यः) जो जो (ते) तेरा (नित्यः आपिः) नित्य अर्थात् अविनाशी या सदा का बन्धु, और (प्रियः सन्) प्रिय होता हुआ (सखा) मित्र (त्वाम्) तेरे प्रति, (आगांसि) पापकर्म (कृणवत्) करता है, (यक्षिन्) हे पूजनीय! (ते) वे (एनस्वन्तः) पाप वाले हम (मा भुजेम) तेरे [आनन्द रस का] भोग न करें, तो भी (विप्रः) तू मेधावी (यन्धि स्म) प्रदान कर (स्तुवते) स्तोता के लिये (वरूथम्) वरणीय निज घर या आश्रय।

[मन्त्र में वसिष्ठ की उक्ति है। वह वरुण का अविनाशी और सदा का प्रिय सखा है। यथा "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (ऋ० १।१६४।२०)। उपासना सम्बन्धी अन्तरायरूपी पाप अर्थात् अपराध उसके द्वारा हुए हैं, अतः वह वरुण के आनन्द रस के भोग का

अधिकारी तो अपने को नहीं मानता, तो भी वह उस वरुण का आश्रय तो चाहता ही है। मन्त्र में "एनस्वन्तः" बहुवचन है, यह जताने के लिये कि उपासक हैं तो अज्ञानी मनुष्य, उन द्वारा उपासना में अपराध हो जाने स्वाभाविक हैं, अतः वे तेरे आश्रय को तो चाहते ही हैं। अतः उन्हें निज आश्रय तो अवश्य प्रदान कर। यक्षिन्=यक्ष पूजायाम् (चुरादिः)। वरूथम् गृहनाम (निघं० ३।४)। यन्धि=प्रयच्छ (वेंकट माधव]।

ध्रुवासु त्वासु क्षितिषु क्षियन्तो व्यस्मत्पाशं वरुणो मुमोचत्।
अवो वन्वाना अदितेरुपस्थाद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

७ ८८।७॥

(तु) तो (आसु) इन (ध्रुवासु) नित्य (क्षितिषु) क्षितियों में (क्षियन्तः) निवास [हम कर रहे हैं] (अस्मत्) हमसे (वरुणः) वरणीय परमेश्वर ने (पाशम्) शरीररूपी फन्दे को (विमुमोचत्) विमुक्त कर दिया है। (अदितेः) अनश्वर प्रकृति की (उपस्थात्) गोद से (अवः) रक्षा (वन्वानाः) चाहते हुए हम हैं; (यूयम्) तुम (सदा) सदा (नः) हमारी (स्वस्तिभिः) कल्याणमार्गों द्वारा (पात) रक्षा करो।

[क्षितियां हैं, निवासार्थ शरीर, नाना जन्मों द्वारा प्राप्त नाना शरीर; क्षि निवासे (तुदादिः)। बद्ध जीवात्माओं के लिये नाना शरीरों में जाना ध्रुव नियम है। जीवन्मुक्त जीवात्मा अनुभव करते हैं कि वरुण ने निज कृपा द्वारा हमें बन्धन से विमुक्त किया है, और वे प्रकृति की गोद से छुटकारा पा गये हैं। संसारी व्यक्ति इन जीवन्मुक्तों से कल्याणमार्गों द्वारा रक्षाएं चाहते हैं, ताकि वे भी अदिति की गोद से छुटकारा पा सकें।

सत्यासत्य वचन और व्यवहार

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥
७।१०४।१२॥

(चिकितुषे जनाय) सम्यक्-ज्ञानी पुरुष के लिये (सुविज्ञानम्) सुविज्ञात है कि (सत् च, असत् च वचसी) सत् और असत्वचन (पस्पृधाते) परस्पर स्पर्धा करते हैं। (तयोः) उन दोनों में, (यतरत्) जो वचन (ऋजीयः) अधिक ऋजु अर्थात् सीधा, सरलमार्गी है, (तत् इत्) उसे ही (सोमः) परमेश्वर (अवति) सुरक्षित करता है, और (असत्) असत् अर्थात् जिसकी सत्ता नहीं उस असत्य का (आहन्ति) पूर्णतया हनन करता है।

[स्वार्थ के लिये मनुष्य असत्य वचन भी बोल देता है। परन्तु यह प्रत्येक को अनुभव है कि उस समय उसमें सत्य और असत्य में संघर्ष अवश्य होता है, यह इन दो में परस्पर स्पर्धा है। यह ही देवासुर संग्राम है। स्वार्थप्रधान व्यक्ति में तो असत्य विजयी हो जाता है और निःस्वार्थी में सत्य विजय पाता है। सत्य का मार्ग सीधा तथा छोटा होता है। जैसी वस्तुस्थिति होती है उसे उसी अवस्था में कह देना होता है। परन्तु असत्य का अवलम्बन लेने पर उसे छिपाने के लिये नानाविध असत्यमार्गों की भी सहायता लेनी पड़ती है। इसलिये असत्य का मार्ग सीधा नहीं, छोटा नहीं, वह कुटिल है, अतः लम्बा है। मन्त्रानुसार परमेश्वर अन्ततो गत्वा सत्य की तो रक्षा करता और असत्य का हनन करता है। सोम का अभिप्राय सौम्यस्वभाव वाला परमेश्वर है]।

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥
७।१०४।१३॥

(न वै उ) न, निश्चय से (सोमः) सोम (वृजिनम्) असत्यभाषी पापी की (हिनोति) वृद्धि करता है, (न) और न (मिथुया धारयन्तम्) मिथ्या अर्थात् असत्य के धारण करने वाले (क्षत्रियम्) क्षत्रिय की वृद्धि करता है। (रक्षः हन्ति) असत्याचारी राक्षस की वह हत्या करता है, (असत् वदन्तम्) असत्य भाषी की (आहन्ति) पूर्णतया हत्या करता है। (उभौ) ये दोनों अर्थात् असत्याचारी और असत्य-भाषी (इन्द्रस्य) शक्तिशाली परमेश्वर के (प्रसितौ) जाल में बन्धे (शयाते) शयन करते हैं। "सोम" द्वारा परमेश्वर के सौम्य स्वभाव का, और "इन्द्र" द्वारा परमेश्वर की उग्र व्यवस्था का कथन हुआ है। राष्ट्रिय भावना में सोम द्वारा सौम्यस्वभाव वाला प्रधानमन्त्री और इन्द्र द्वारा उग्र-प्रकृति वाला राजा भी अभिप्रेत हैं। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद ४।१६।६,७ मन्त्र विशेष द्रष्टव्य हैं। यथा "ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु" ॥६॥ "शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ्नृचक्षः। आस्तां जाल्म उदरं श्रंशयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः" ॥७॥

नैतिक जीवन

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥
१०।१६४।१॥

(मनसस्पते) मन के पति बने हे पाप ! (अपेहि) हट जा (अपक्राम) भाग जा, (परः चर) हमसे परे विचर (निर्ऋत्याः परः) पृथिवी से परे (आचक्ष्व) निज दृष्टि कर, (जीवतः मनः) जीवित मनुष्य का मन (बहुधा) नानाविध विचारों और आशाओं वाला होता है।

[मानसिक पाप को आत्मिक बल द्वारा हटाने और भगा देने का वर्णन मन्त्र में हुआ है। निर्ऋतिः=पृथिवी (निघं० १।१)। मानसिक पाप पृथिवी पर दृष्टिपात न करे, यह भावना प्रकट की गई है। पाप घातक है, वह मनुष्य की आयु को क्षीण कर देता है, अतः मनुष्य की अभिलाषाएं पूरी नहीं होतीं। अभिलाषाएं हैं बहुविध। उनकी पूर्ति के लिये दीर्घायु अपेक्षित है। दीर्घायु के लिये पाप को जीवन से हटाना होता है]।

भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम् ।
भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः ॥ १०।१६४।२॥

(भद्रम्) कल्याणकारी और सुखदायी (वरम्) श्रेष्ठ कर्मों को (वै) ही (वृणते) [श्रेष्ठ व्यक्ति] वरण करते हैं, और (दक्षिणम्) वृद्धिकारक (भद्रम्) भद्र कर्मों को (युञ्जति) अपने साथ संयुक्त करते हैं। (वैवस्वते) सूर्य से उत्पन्न पृथिवीलोक में (चक्षुः) दृष्टि को (भद्रम्) भद्र बनाते हैं, तब (जीवतः मनः) जीवित मनुष्य का मन (बहुत्रा) बहुत प्रकार से त्राण करने वाला हो जाता है।

[पाप को हटाने के लिये श्रेष्ठ मनुष्य मन को भद्र बनाते और श्रेष्ठ कर्म करते हैं, वृद्धिकारक भद्र कर्मों को अपनाते और निज दृष्टि को भद्र बनाते हैं। तब मन उनका त्राण करता है। भद्रम्=भदि कल्याणे सुखे च (भ्वादिः)। दक्षिणम्=दक्ष वृद्धौ (भ्वादिः)। वैवस्वते=विवस्वान् (सूर्य), वैवस्वत(सूर्योत्पन्न पृथिवी लोक)]।

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ॥ १०।२५।१॥

हे परमेश्वर! (नः मनः) हमारे मनों को, (दक्षम्) शारीरिक बल को, (उत) तथा (क्रतुम्) कर्मों और प्रज्ञा को (भद्रम्) भद्र-मार्ग की ओर (अपि वातय) प्रेरित कीजिये।

["दक्षः बलनाम् (निघं० २।८)। "क्रतुः कर्मनाम"; "प्रज्ञा-नाम" (निघं० २।१; ३।६)]।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

१।८९।८॥

(देवाः यजत्राः) हे पूजनीय तथा संगति के योग्य विद्वानों! (कर्णेभिः) कानों द्वारा (भद्रम्) भद्र वचनों को (शृणुयाम) हम सुनें, और (अक्षभिः) आंखों द्वारा (भद्रम्) भद्र दृश्यों को (पश्येम) हम देखें। तथा (स्थिरैः अङ्गैः) अचल अङ्गों द्वारा, (तनूभिः) तथा अचल शरीरों द्वारा (तुष्टुवांसः) परमेश्वर की स्तुतियां करते हुए (यद्) जो (आयुः) जीवन (देवहितम्) परमेश्वर देव ने हमें दिया है उसे (व्यशेम) हम पूर्णतया प्राप्त करें।

[यजत्राः=यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु। विद्वान् देवों की संगति द्वारा सदुपदेश पाकर निज इन्द्रियों को शुभकार्यों में प्रेरित करना चाहिए। और यावज्जीवन परमेश्वर की स्तुतियां करते रहना चाहिए। स्तुतियां तभी ठीक प्रकार हो सकती हैं, जबकि अङ्ग और शरीर स्तुति करते समय अचल हों, हिलें-जुलें नहीं]।

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ ७।८९।२॥

(अद्रिवः) हे विदीर्ण करने वाले परमेश्वर ! (यत्) जो (एमि) मैं आता हूं (प्रस्फुरन् इव) गर्व या अभिमान से फूले हुए के सदृश (न) जैसे कि (दृतिः[1]) मशक [जल से भरी हुई] (ध्मातः) फूल जाती है, तो (मृळ) हे सुखी करने वाले ! (सुक्षत्र) और क्षतों और क्षतियों से त्राण करने वाले ! (मृळय) मुझे सुखी कर।

[मृळ=मृड सुखने, अन्तर्भावित णिजर्थं। गर्व या अभिमान भी हृदय-ग्रन्थि को विदीर्ण कर देता है। यथा "भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश् छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। (मुण्डकोप० २।२।८)। इस हृदय-ग्रन्थि के विदीर्ण हो जाने पर मनुष्य सुखी हो जाता है। अद्रिः=आ दृणात्येतेन (निरुक्त ४।१।४)।

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।
मृळा सुक्षत्र मृळयं ।। ७।८९।३।।

(समह) हे महनीय परमेश्वर ! [मुझमें] (क्रत्वः) प्रज्ञा की (दीनता) दीनता हैं, कमी है, इसलिये (शुचे) हे पवित्र परमेश्वर ! (प्रतीपम्) उलटे मार्ग में (आजगम्) मैं चलता हूं (मृळा सुक्षत्र मृळय) अर्थ ७।८९।२ की तरह।

[क्रतुः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)। उपासक सुखी होने के लिये परमेश्वर से प्रज्ञा की प्रार्थना करता है]।

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय ।। ७।८९।४।।

हे परमेश्वर ! (अपाम् मध्ये) जलों के मध्य में (तस्थिवांसम्) स्थित हुए (जरितारम्) तेरे स्तोता को (तृष्णा) धन-पिपासा (अविदत्) प्राप्त है, लगी हुई है। (मृळा सुक्षत्र मृळय) अर्थ ७।८९।२ की तरह।

---

१. अथवा लुहार की धौंकनी के सदृश अभिमान वायु से फूला हुआ।

[जल में स्थित हुआ मानों जैसे प्यास से व्याकुल हो, इसी प्रकार हे परमेश्वर ! मैं तेरा उपासक प्रभूत धनी होता हुआ भी धनतृष्णा से व्याकुल हूं। प्रभो ! मेरी इस तृष्णा को शान्त कर। "आपः" के दो अर्थ हैं, जल और परमेश्वर। जल अर्थ तो प्रसिद्ध है। (यजु० ३२।१) में परमेश्वर के नाना नामों में "ताः आपः" भी पठित हैं। उपासक इस आध्यात्मिक "आपः" का पान चाहता है ताकि उसकी धनतृष्णा शान्त हो सके।

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥
७।८९।५॥

(वरुण) हे वरणीय ! (मनुष्याः) हम प्रजाजन (दैव्ये जने) दिव्यकोटि के जनों में (यत् किं च) जो कुछ (इदम् अभिद्रोहम्) यह वैयक्तिक द्रोहकर्म (चरामसि) करते हैं, या (अचित्ती) अज्ञान के कारण (यत्) जो (तव धर्मा=धर्माणि) तेरे नियमों का (युयोपिम) उल्लंघन करते हैं, (देव) हे देव ! (तस्मात् एनसः) उस एक पाप या अपराध से (नः मा रीरिषः) हमारी हिंसा न कर, निज आश्रय से विहीन न कर।

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ १०।१८७।१॥

(क्षितीनाम्) क्षिति अर्थात् पृथिवी के निवासी मनुष्यों पर (वृषभाय) सुख और सुख सम्पत्ति की वर्षा करने वाले, (अग्नये) तथा हमारी द्वेष भावनाओं को भस्मीभूत कर देने वाले परमेश्वराग्नि के लिये [हे मनुष्य तू] (वाचम्) स्तुति वचन (प्र ईरय) प्रेरित किया कर, उच्चारित किया कर, ताकि (सः) वह परमेश्वर (द्विषः) द्वेष-नद से (अति=अतितार्य) हमें तैरा कर, पार कर, (नः) हमारा (पर्षत्) पालन-पोषण करे।

[अग्निः=परमेश्वर। यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१)। क्षितीनाम्="क्षितयः मनुष्यनाम" (निघं० २।३)।

पर्षत्=पृ पालन पूरणयोः (जुहोत्यादिः; क्र्यादि)+लेट् लकार में, सिप्, अट् का आगम]।

यो रक्षांसि निजूर्वति वृषा शुक्रेण शोचिषा।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ १०।१८७।३॥

(यः) जो (वृषा) सुख और सुख सम्पत्ति की वर्षा करने वाला या शक्तिशाली परमेश्वर (शुक्रेण) अतिप्रदीप्त (शोचिषा) निज पवित्र चमक द्वारा (रक्षांसि) राक्षसी भावों की (निजूर्वति) नितरां हिंसा कर देता है। (स नः……) पूर्ववत्।

[नि जूर्वति="जूर्वति वधकर्मा" (निघं० २।१९), तथा "जूरी हिंसावयोहान्योः" (दिवादिः)। राक्षसीभाव हैं तमोगुणीभाव है]।

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ १०।१८७।४॥

(यः) जो परमेश्वर (विश्वा भुवना=विश्वानि भुवनानि) सब भुवनों को (वि पश्यति) प्रत्येक को पृथक्-पृथक् रूप में देखता है, (च) और (सं पश्यति) युगपत् भी सबको देखता है। (स नः…) पूर्ववत्।

[भुवना=भुवनानि। १४ भुवन होते हैं। परमेश्वर इन १४ में से प्रत्येक को पृथक्-पृथक् रूप में तथा युगपत् एक दृष्टि में भी देखता है। भाष्यकार इन मन्त्रों की व्याख्या सूर्यपरक करते हैं। सूर्य में मन्त्र वर्णन यथार्थ प्रतीत नहीं होते। सूर्यस्थ=आदित्यस्थ परमेश्वर के सम्बन्ध में वर्णन यथार्थ प्रतीत हैं। यथा "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥ (यजु० ४०।१७)]।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥ १०।१३७।१॥

(उत) तथा (देवाः) हे दिव्यजनो! (अवहितम्) पाप के कारण गिरे पड़े को (उन्नयथ) उन्नत करो, उठाओ, (देवाः) हे दिव्यजनो! (पुनः) बार-बार [उन्नत करो, उठाओ]। (उत) तथा (देवाः) हे दिव्यजनो! (आगः चक्रुषम्) पाप कर्मी को (जीवयथ) नवजीवन प्रदान करो, (देवाः) हे दिव्यजनो! (पुनः) बार-बार [नवजीवन प्रदान करो]।

[पापी के साथ घृणा न करनी चाहिये, अपितु उसे पापकर्मों से छुड़ाकर, उन्नत करना चाहिये, और नवजीवन प्रदान करना चाहिये। बार-बार पाप करने वाले को भी बार-बार उन्नत कर, नवजीवन प्रदान करने का यत्न करना चाहिये]।

मधुमन्मे परायणं मधुमत्पुनरायनम् ।
ता नो देवा देवतया युवं मधुमतस्कृतम् ॥ १०।२४।६॥

(मे) मेरा (परायणम्) जाना (मधुमत्) मधुर हो, (पुनः आ अयनम्) फिर लौटकर आना (मधुमत्) मधुर हो। (ता देवा=तौ देवौ) वे दोनों (युवम्) तुम देव, (देवतया) निज दिव्यशक्ति द्वारा, (नः) हमें (मधुमतः) मधुर (कृतम्) करो।

[हमारा जाना-आना मधुर होना चाहिये। जाते-आते किसी को ठोकर न लगनी चाहिये। २४वें सूक्त में अश्विनौ का वर्णन है। अश्विनौ हैं माता-पिता या गुरु-गुरुपत्नी। इन्हें प्रार्थित किया है कि हम बच्चों या शिष्यों की क्रियाओं को शिक्षा द्वारा मधुर कीजिये। बच्चे या शिष्य स्वयं याचना कर रहे हैं निज सुधार के लिये। सुधार के लिये स्वेच्छा का होना, नैतिक जीवन में सहायक है]।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥
१०।१८।४॥

मैं परमेश्वर (जीवेभ्यः) जीवित मनुष्यों के लिये (इमम् परिधिम्) इस मर्यादा को (दधामि) स्थापित करता हूं (एषाम् नु) इन मनुष्यों में से (अपरः) अन्य कोई, (एतम्) इस (अर्थम्) अभ्यर्थनीय धन की ओर (मा गात्) [कुपथ] से न जाय। ताकि (पुरूचीः) बहुविध कार्यों से व्याप्त (शतम् शरदः) सौ शरद्-ऋतुओं तक (जीवन्तु) मनुष्य जीवित हो सकें, और (मृत्युम्) मृत्यु का (अन्तर्दधताम्) अन्तर्धान करें, (पर्वतेन) जैसे कि पर्वत द्वारा अपरदेश का अन्तर्धान हो हो जाता है, व्यवधान हो जाता है।

[अधिक आशावादी आशा से प्रेरित होकर धनार्जन में, अविहित उपायों का आश्रय न लें, अपितु सुपथ से धनार्जन करें, इस निमित्त

उनके लिये मर्यादा का विधान हुआ है। यथा "अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्" (यजु० ४०।१६)। इस मन्त्र में सुपथ द्वारा धनार्जन की प्रार्थना की गई है।

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥
१०।५।६॥

(कवयः) मेधावियों ने (सप्त मर्यादाः) सात मर्यादाएं (ततक्षुः) निर्मित की हैं, (तासाम्) उनमें से (एकाम्, इत् अभि) एक की ओर भी (गात्) जो जाता है (अंहुरः) वह पापी हो जाता है। [जो इन पापों की ओर नहीं जाता वह] (आयोः) प्रत्येक मनुष्य का (ह) निश्चय से (स्कम्भः) आधार हुआ, (उपमस्य) सदाचार में उपमा-रूप परमेश्वर के (नीळे) घर में, (पथाम्) जीवन के अन्य मार्गों के (विसर्गे) अवसान अर्थात् समाप्ति में, (धरुणेषु) तथा सब प्राणियों के धारण करने में (तस्थौ) दृढ़ स्थित हो जाता है।

[कवयः मेधाविनः (निघं० ३।१५)। सप्तमर्यादाः="स्तेय, तल्पारोहण अर्थात् व्यभिचार, भ्रूणहत्या अर्थात् गर्भपात, सुरापान, दुष्कर्म की पुनः पुनः सेवा, पाप करने पर अनृतभाषण" (निरुक्त ६।५।२७)। तथा "पानम्, अक्षाः, स्त्रियः, मृगया, दण्डपारुष्यम्, वाक्पारुष्यम्, अर्थदूषणम्" (तु० म० स्मृ ७।४७।५०; वेंकट माधव) आयोः=आयवः मनुष्यनाम (निघं० २)। (स्कम्भः=आधारः)। यथा "अथर्व० के स्कम्भ सूक्त में स्कम्भ द्वारा सर्वाधार परमेश्वर सूचित किया है (१०।७)। उपमस्य नीळे=उपमारूप परमेश्वर के घर अर्थात् हृदय में वह स्थिररूप में स्थित हो जाता है और परमेश्वर के साथ हृदयगृह में स्थित हुआ परमेश्वरीय आनन्दरस का पान करता है। पथाम् विसर्गे=उसके लिये जीवन के अन्य सांसारिक पथ समाप्त हो जाते हैं, वह केवल अध्यात्ममार्ग में ही स्थित हुआ सब प्राणियों के धारण-पोषण में रहता है। सात मर्यादाओं में वेंकट माधव निर्दिष्ट "अर्थदूषणम्" भी मर्यादा है, अर्थात् दूषित विधि से "अर्थ" का उपार्जन करना। इसका वर्णन पूर्व के मन्त्र में हुआ है]।

धार्मिक जीवन

श्र॒द्धया॒ग्निः समि॑ध्यते श्र॒द्धया॑ हूयते ह॒विः ।
श्र॒द्धां भग॑स्य मू॒र्धनि॒ वच॒सा वे॑दयामसि ॥ १०।१५१।१॥

(श्रद्धया) श्रद्धा द्वारा (अग्निः) यज्ञियाग्नि (समिध्यते) प्रदीप्त की जाती है, (श्रद्धया) श्रद्धा द्वारा (हविः हूयते) हवि की आहुतियां दी जाती हैं। (भगस्य) धर्म की (मूर्धनि) मूर्धा पर (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (वचसा) वैदिक वचन द्वारा (आ वेदयामसि) हम विज्ञापित करते हैं।

[भग है धर्म। भग के अर्थ हैं ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। मन्त्र में "धर्म" अर्थ अभिप्रेत है। यज्ञ और आहुतियां श्रद्धा पूर्वक होने चाहियें। धर्म को मूर्धा अर्थात् सिर है श्रद्धा। सिर के विना शरीर केवल धड़ है, निष्प्राण है। इसी प्रकार श्रद्धा के विना धर्म कर्म फलप्रद नहीं होते]।

श्र॒द्धां दे॒वा यज॑माना वा॒युगो॑पा॒ उपा॑सते ।
श्र॒द्धां हृ॑द॒य्य१॒॑याकू॑त्या श्र॒द्धया॑ विन्दते॒ वसु॑ ॥ १०।१५१।४॥

(यजमानाः) ध्यानयज्ञ करते हुए (देवाः) दिव्य योगिजन, (वायु[1] गोपाः) प्राणायाम द्वारा सुरक्षित हुए या निज इन्द्रियों को सुरक्षित करते हुए, (श्रद्धाम्) श्रद्धा को [धारण कर] (उपासते) परमेश्वर की उपासना करते हैं। (श्रद्धाम्) श्रद्धा को [धारण कर] (हृदय्यया) हृदयनिष्ठ (आकूत्या) संकल्प द्वारा उपासना करते हैं; (श्रद्धया) श्रद्धा द्वारा (वसु) हृदयवासी ब्रह्म को (विन्दते) उपासक प्राप्त करता है।

श्र॒द्धां प्रा॒तर्ह॑वामहे श्र॒द्धां म॒ध्यंदि॑नं॒ परि॑ ।
श्र॒द्धां सूर्य॑स्य नि॒म्रुचि॒ श्रद्धे॒ श्रद्धा॑पये॒ह नः ॥ १०।१५१।५॥

---

१. गोपाः=गुप् रक्षणे (भ्वादिः); तथा गो=गावः, इन्द्रियाणि+पा (रक्षणे, अदादिः)। इन्द्रियों की सुरक्षा=इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकना, उनका निरोध। वायुगोपाः=वायुः गोपः रक्षकः येषाम् ते।

(श्रद्धां) श्रद्धा का (प्रातः) प्रातः काल (हवामहे) हम आह्वान करते हैं, (श्रद्धाम्) श्रद्धा का (मध्यंदिनम्) मध्याह्नकाल में (परि) सब कार्यों में [आह्वान करते हैं]। (सूर्यस्य) सूर्य के (निम्रुचि) अस्त हो जाने पर (श्रद्धाम्) श्रद्धा का [आह्वान करते हैं], (श्रद्धे) हे श्रद्धा! (नः) हमें (इह) इस जीवन में (श्रद्धापय) श्रद्धा प्राप्त करा, या "श्रत्" अर्थात् सत्य, "धापय" धारण करा।

[श्रद्धापय=श्रद्धाम् आपय, प्रापय अथवा श्रत्+धापय (धा धारणे)। "श्रत् सत्यनाम" (निघं० ३।१०)। हे श्रद्धे! तू सत्य या सत्यस्वरूप परमेश्वर प्राप्त करा, या उसका हृदय में प्रत्यक्ष करा। श्रद्धा मानसिक भावना है। परन्तु कविता में उस भावना को सम्बोधित किया है। योग के व्यासभाष्य में योगी की रक्षा में श्रद्धा को माता से उपमित किया है। यथा "श्रद्धा जननीव कल्याणी योगिनं पाति" (योग० १।१२)। श्रद्धा है,—"श्रत् अर्थात् सत्य को धारण करने की मनोवृत्ति, मानसिक प्रवणता झुकाव"]।

य उ श्रिया दमेष्वा दोषोषसि प्रशस्यते।
यस्य व्रतं न मीयते॥ २।८।३॥

(यः उ) जो (श्रिया) श्री से सम्पन्न परमेश्वर, (दमेषु) घर में (आ) सर्वत्र (दोषा उषसि) सायंकाल तथा प्रातःकाल की उषा में (प्रशस्यते) प्रशंसित किया जाता है, और (यस्य) जिसके सम्बन्ध में (व्रतम्) हमारा यह व्रत (न मीयते) क्षत नहीं होता ["विश्वा अधि श्रियो दधे" (२।८।५)] वह सब प्रकार की शोभा-सम्पत्तियों को धारण करता है।

एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्॥
४।५८।५॥

(एताः) ये स्तुतिवाणियां (हृदयात् समुद्रात्) हृदय-समुद्र से (शतव्रजाः) सैंकड़ों वेगों वाली हुई (अर्षन्ति) गति करती हैं। (रिपुणा) विरोधी किसी शक्ति द्वारा (न अवचक्षे) रोकी नहीं जा सकतीं। इन स्तुतिवाणियों में (घृतस्य) प्रकाश की (धाराः) धाराएं

लहर (अभि) साक्षात् (चाकशीमि) मैं स्तोता देखता हूं, (आसाम् मध्ये) इन स्तुतिवाणियों के मध्य में (वेतसः) संसार पट का बुनने वाला (हिरण्ययः) हिरण्यमय या "हृदय को रमणीय" परमेश्वर दृष्ट होता है। हिरण्यम्="हृदयरमणं भवतीति वा" (निरुक्त २।३।१०)।

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः ॥

४।५८।६॥

(अन्तर्हृदा मनसा) हृदयान्तर्वर्ती मन द्वारा (पूयमानाः) पवित्र की गईं (धेनाः) स्तुतिवाणियां, (सरितो न) नदियों के सदृश (सम्यक्) ठीक प्रकार (स्रवन्ति) प्रवाहित हो रही हैं। (घृतस्य) प्रकाश की (एते ऊर्मयः) ये लहरें (अर्षन्ति) प्रवाहित हो रही हैं [शीघ्रता से] (इव) जैसे कि (मृगाः) मृग (क्षिपणोः) अस्त्र-प्रक्षेप्ता शिकारी से [भयभीत होकर] (ईषमाणाः) शीघ्रता से भाग जाते हैं।

[मन्त्र ३ में "प्रशस्यते" द्वारा परमेश्वर की प्रशस्ति का कथन हुआ है, और मन्त्र ५, ६ में प्रशस्ति सम्बन्धी दो मन्त्र दिये हैं, जिनका अभिप्राय निम्नलिखित है—

"स्तोता की स्तुतिवाणियों का उत्थान हृदय-समुद्र से कहा है। हृदय है समुद्र, जिसमें रक्तरूपी जल का प्रवाह होता रहता है। हृदय को "सिन्धु" भी कहा है, और हृदयस्थरक्त को "आपः" भी (अथर्व० १०।२।११)। "शतव्रजाः" द्वारा उपासना में स्तुतियों की बहुवेगीधारा प्रवाहित सूचित की है। समुद्र में चप्पू द्वारा नौका के प्रवहन की अपेक्षा, स्तुतिवाणियां अधिक वेग से हृदय समुद्र से प्रवाहित होती हैं, यह भावना "शतव्रजाः" द्वारा प्रकट की है। "रिपुणा" द्वारा अन्तरायों का तथा नास्तिक वृत्तियों का कथन हुआ है। अन्तरायों को "चित्तविक्षेपाः" भी कहा है (योग १।३०)। समाधि में "घृत" अर्थात् प्रकाश की धाराओं की अनुभूति होती है। घृत= घृ क्षरणदीप्त्योः (जुहोत्यादि), मन्त्र में दीप्त्यर्थ अभिप्रेत है। यथा "हृदयपुण्डरीके धारयतः" ...... प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते" (योग भाष्य १।३६), अर्थात् हृदय कमल में जब योगी प्रकृष्ट मनोवृत्ति को धारित अर्थात् स्थापित करता है तब सूर्य,

चन्द्र, मणियों की प्रभारूप में चित्तवृत्ति विकल्पित होती है,—इसे "घृतस्य धारा" द्वारा सूचित किया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में नीहार धूम्र, सूर्य, आग, वायु, खद्योत, विद्युत् [की लहर], स्फटिक तथा शशी की प्रभा को ब्रह्माभिव्यक्ति में पूर्वरूप अर्थात् "पुरः सर" कहा है (२।११)। इन धाराओं की अभिव्यक्ति के मध्य में "हिरण्यय-वेतसब्रह्म" की अभिव्यक्ति अर्थात् दर्शन होते हैं (मन्त्र ५)।

धेनाः का अर्थ हैं वेदवाणियां। धेनाः वाङ्नाम (निघं० १।११)। उपासना में वाणियों के अनिरुद्ध प्रवाह को "सरितः" द्वारा निरूपित किया है, और इन्हें हृदयस्थमन द्वारा पवित्र करने का कथन हुआ है। मन्त्र में मन का स्थान हृदय माना गया है। स्तुतिवाणियों को पवित्र करने का अभिप्राय है स्तुतिवाणियों को उच्चारणदोष से रहित करना। स्तुतिवाणियों में जो प्रकाश की धाराएं अभिव्यक्त होती हैं उन्हें "ऊर्मयः[1]" अर्थात् सामुद्रिक लहरें कहा है, क्योंकि ये धाराएं हृदयसमुद्र से उठती हैं। (मन्त्र ६)।

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वी३दं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूरआधीः किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥

६।९।६॥

(मे) मेरे (कर्णा=कर्णौ) कान (वि=पतयतः) विविध श्रोतव्य शब्दों की ओर उड़ते हैं, (चक्षुः) आंख (वि) विविध दृश्यों की ओर उड़ती है (इदम् यत्) यह जो (हृदये आहितं ज्योतिः) हृदय में निहित ज्योति है [वह उड़ रही है]। (मे मनः) मेरा मन (दूरेऽ-आधीः) दूर-दूर की चिन्ताओं में (विचरति) विचरता है, (किं स्विद् वक्ष्यामि) मैं क्या क्या कहूं, (किम्, उ, नु) मैं क्या (मनिष्ये) मनन करुं।

[हृदये ज्योतिः=ब्रह्माभिव्यक्ति के पुरःसर होने वाली ज्योति भी उड़ रही है, स्थिरता को प्राप्त नहीं होती (श्वेताश्व-उपनिषद् २।११) मनिष्ये=श्रवण, मनन, निदिध्यासन तीनों मेरे विक्षिप्त हो रहे हैं, मैं विवश हूं, हे वैश्वानर! कृपया स्थिरता प्रदान कीजिए]।

---

१. स्तुतिगान में स्वर के उतराव-चढ़ाव को धाराः और ऊर्मयः कहा है।

सामाजिक जीवन

(१)

सहयोग, ऐकमत्य

संसमिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ १०।१९१।१॥

(वृषन्) काम्यपदार्थों की वर्षा करने वाले ! (अग्ने) हे जगदग्रणी परमेश्वर ! (अर्यः) स्वामी तू (आ) सर्वत्र, (विश्वानि) [वसूनि] सब प्रकार की सम्पत्तियों को (सम्, सम्, इत्, युवसे) सम्यक्तया, समूहरूप में ही हमारे साथ सम्बद्ध कर रहा है। (इळस्पदे) पार्थिव शरीर के हृदयस्थान में (समिध्यसे) तू सम्यक्-प्रदीप्त होता है, (सः) वह तू (नः) हमें (वसूनि) सम्पत्तियां (आभर= आहर) प्रदान कर।

[मन्त्र में "अर्यः" और "मध्यमपुरुष" के योग से अग्नि चेतनधर्मा प्रतीत होती है। अतः अग्नि द्वारा चेतन परमेश्वर का ग्रहण है। वह अग्नि है, जगत् का अग्रणी है। "अग्निः अग्रणीर्भवति" (निरुक्त ७।४।१४)। यज्ञियाग्नि भी जलवायु की शुद्धि तथा वर्षा द्वारा अन्नादि सम्पत्तियों का प्रदान करती है। युवसे=यु मिश्रणे (अदादिः)। मिश्रण=हमारे साथ मिश्रित अर्थात् सम्बद्ध करना। युवसे=प्रापयसि, सायण (अथर्व ६।६३।४)। इडस्पदे="इलायाः भूम्याः पदे," आतो धातोः" अष्टा ६।४।१४०, इत्यत्र "आतः" इति योगविभागात् इडाशब्दस्य आल्लोपः" (सायण, अथर्व० ६।६३।४)। इडा=भूमिः, पृथिवी (निघं १।१)। पृथिवी=शरीरम्, पृथिवी से उत्पन्न होने से। यथा "पृथिव्याः शरीरम्" (अथर्व० ५।१०।८), तथा "पृथिवी शरीरम्" (अथर्व० ५।९।७)]

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १०।१९१।२॥

(सं गच्छध्वं) तुम परस्पर संग किया करो, (संवदध्वम्) और संवाद किया करो, (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन (संजानताम्)

संज्ञान अर्थात् ऐकमत्य को प्राप्त हुए (देवाः) विद्वान् लोग (यथा) जैसे (भागम्) भजनीय परमेश्वर की (उपासते) उपासना करते हैं, [इसी प्रकार तुम भी भजनीय परमेश्वर की उपासना किया करो]।

[परस्पर ऐकमत्य के लिए सब को एक पिता परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये, ताकि यह जान कर कि हम सब एक ही पिता के पुत्र होने से परस्पर भाई हैं,—परस्पर विरोध त्याग कर, सहानुभूतिपूर्वक ऐकमत्य को प्राप्त हुए, पारस्परिक सहायता तथा सहयोग कर सकें]।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

१०।१९१।३॥

(मन्त्रः) मन्त्रणा या वेदमन्त्र अर्थात् वेद (समानः) तुम्हारा एक हो, (समितिः[1]) राजसभा (समानी[2]) एक हो, (मनः) संकल्प-विकल्पात्मक मन (समानम्) ऐकमत्य को प्राप्त हो, (एषाम्) इन प्रजाजनों का (चित्तम्) चित्त (सह) परस्पर सहयोग सम्पन्न हो, (वः) तुम्हारे लिये (समानम्) एकरूप (मन्त्रम्) वेदमन्त्र का (अभिमन्त्रये) मैं उच्चारण करता हूं, और (वः) तुम्हारी (समानेन) संमिलित (हविषा) हवि द्वारा (जुहोमि) मैं आहुतियां देता हूं, यज्ञ करता हूं।

[समितिः=राजसभा, यथा "राजानः समिताविव" (यजु० १२।८०) एषाम्=प्रजाजन। मन्त्र २ में देवों का वर्णन हुआ है ऐकमत्य के लिये। राष्ट्र और समाज के देव यदि ऐकमत्य वाले हों, तब प्रजाजन भी ऐकमत्य वाले हो जाते हैं। यथा "यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते" (गीता ३।२४)। अभिप्राय यह कि लोक, श्रेष्ठ पुरुषानुगामी होता है। इसी भाव को मन्त्र में "एषाम्" द्वारा प्रकट किया है]।

---

१. समिति के सदस्यों को "सामित्य" कहते हैं (अथर्व० ८।१०।११; तथा १३।१।१३)। सभा के सदस्यों को सभ्य तथा सभा और समिति के संयुक्त अधिवेशन को "संगत" कहते हैं।

२. समान=एक, यथा "अनयोः" समाना माता=एका माता।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥१०।१९१।४॥

(वः) तुम्हारा (आकूतिः) संकल्प (समानी) एकरूप हो, (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदय (समाना=समानानि) परस्पर मिले रहें, या तुम्हारी हार्दिक भावनाएं एकरूप हों। (वः) तुम्हारा (मनः) मन (समानम्, अस्तु) मानों एक हो जाए, अर्थात् तुम सब में एक ही मन है, अलग-अलग मन नहीं, (यथा) जिससे कि (वः) तुम्हारा (सुसह) परस्पर उत्तम सहयोग (असति) हो।

यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्नना-
तुरम् ॥ १।११४।१॥

(यथा) जिस प्रकार कि (अस्मिन् ग्रामे) इस ग्राम में (द्विपदे चतुष्पदे) दो-पाए मनुष्यों और चौपाए पशुओं के लिए (शम्) सुख शान्ति (असत्) हो, और (विश्वम्) सब (पुष्टम्) परिपुष्ट और (अनातुरम्) रोगरहित हों।

[ग्राम का प्रत्येक निवासी, ग्राम के सब प्राणियों के लिये, सुख-शान्ति, परिपुष्ट और नीरोगता की प्रार्थना किया करे। सामाजिक जीवन का यह श्रेष्ठ आदर्श है]।

(२)

विवाह

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम् ।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥
१०।१८३।१॥

(त्वा) तुझे (मनसा चेकितानम्) मन से संज्ञानी, (तपसः जातम्) तपश्चर्या से नवजीवन प्राप्त, (तपसः विभूतम्) तप से विभूति सम्पन्न (अपश्यम्) मैंने देखा है (रयिम्) धन, (रराणः) प्रदान करता हुआ (पुत्रकाम) हे पुत्र की कामना वाले! (प्रजया) प्रजा द्वारा (प्रजायस्व) तू उत्पन्न हो।

[चेकितानम्=कित संज्ञाने। इह=या इस गृहस्थाश्रम में। रराणः=रा दाने। प्रजायस्व=पिता पुत्र को या पुत्री को पैदा करके मानों तद्रूप में स्वयं[1] पैदा होता है। मन्त्र में पिता बनने से पूर्व पुरुष में जो गुण होने चाहियें उनका कथन हुआ है। साथ ही यह भी दर्शाया है कि "गृहस्थ" पुत्र तथा पुत्री[2] की कामना के लिये होना चाहिये, भोगकामना के लिये नहीं]।

अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे॥

१०।१८३।२॥

(त्वा) तुझे (मनसा दीध्यानाम्) मन से ध्यानाभ्यास वाली, (स्वायाम्) तथा निज (तनू=तन्वाम्) तनू में (ऋत्व्ये) ऋतुकर्म [रतिक्रिया] के निमित्त (नाधमानाम्) याचना करती हुई को (अपश्यम्) मैंने देखा है। (उच्चा) उच्चकोटि की (युवतिः) युवति तू (माम् उप) मेरे समीप (बभूयाः) हो जा, और (पुत्रकामे) हे पुत्रकामना वाली! (प्रजया प्रजा द्वारा (प्रजायस्व) तू उत्पन्न हो।

[उच्चा=सुकर्मों, सुविचारों तथा ध्यानाभ्यास के कारण उच्चकोटि की। मन्त्र (१, २) में विवाहेच्छु वर-वधू की उक्तियां हैं। मन्त्र (१) में वधू, वर के प्रति कहती है; और मन्त्र (२) में वर-वधू के प्रति कहता है। वधू सद्गुणों में उच्चकोटि की होती हुई "ऋत्व्य" और "पुत्रकामना" वाली है, जिससे सद्गुणी प्रजा उत्पन्न हो। वह प्रजा द्वारा मानों पुनः उत्पन्न होती है, प्रजारूप में पुनः जन्म ग्रहण करती है। इस द्वारा प्रजा को मातृगुणों से सम्पन्न दर्शाया है। बभूयाः=भू (सत्तायाम्) यङ्लुक् आशीर्लिङ्ग लकार]।

---

१. यथा आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् (शत० ब्रा० १४। ९।८।२१) तथा (निरुक्त ३।१।४)।

२. वैदिक साहित्य में पुत्र पद द्वारा पुत्री का भी ग्रहण होता है। यथा "अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्" (निरुक्त ३।१।४)। "मिथुनानां पुत्राणां" द्वारा पुत्र-पुत्री दोनों पुत्रत्वेन अभिप्रेत हैं। तथा दोनों ही दाय के उत्तराधिकारी हैं।

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥
२।३२।४॥

(राकाम) पूर्ण कला सम्पूर्ण पौर्णमासी के सदृश सम्पूर्ण गुण-सम्पन्ना तथा (सुहवाम्) सुगमता से बुलाई जाने वाली पत्नी को (सुष्टुती) उत्तम-स्तुति की वाणी द्वारा (अहम्) मैं पति (हुवे) बुलाता हूं, वह (सुभगा) सौभाग्यवती (नः) हमारे कथनों को (शृणोतु) सुना करे और (त्मना=आत्मना) स्वयं (बोधतु) निज कर्त्तव्यों को जाने। तथा (अच्छिद्यमानया) अटूट अर्थात् दृढ (सूच्या) सूई द्वारा (अपः) सीने के कर्म को, (सीव्यतु) सीया करे, किया करे, तथा (शतदायम्) सैकड़ों को दान देने वाला, (उक्थ्यम्) आचार-विचार में प्रशस्त (वीरम्) वीर-पुत्र (ददातु) हमें प्रदान करे।

[मन्त्र में उत्तम पत्नी के सद्‌गुणों का वर्णन किया है, (१) वह सुहवा हो, हठीली तथा जिद्दी न हो, जब उसे बुलाऊं तो शीघ्र उत्तर प्रदान करे; (२) हम गृहस्थों के कथनों को ध्यानपूर्वक सुने; (३) स्वयं अपने गार्हस्थ्य कर्त्तव्यों को जान कर उन्हें यथावत् करती रहे। (४) गृहस्थोपयोगी वस्त्रों को सिया करे; (५) सन्तानों को वीरता के सदुपदेश दिया करे, उन्हें उदार, परसेवी, तथा आचार-विचार में प्रशस्त करे।

उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।
सुमृळीका भवन्तु नः ॥ ६।५२।९॥

(ये) जो (नः) हमारे (सूनवः) पुत्र हैं वे (अमृतस्य) अमर परमेश्वर की (गिरः) वेदवाणियों को (उप शृण्वन्तु) श्रद्धापूर्वक सुना करें; ताकि वे (नः) हमारे लिये (सुमृळीकाः) उत्तम सुखदायक (भवन्तु) हों।

[सन्तानों को प्रतिदिन वेदवाणियों के सदुपदेश सुनाने चाहियें। यह माता-पिता और आचार्य का कर्त्तव्य है। तभी वे शुद्ध विचारों और शुद्ध-आचारों वाले होकर सबके लिये सुखदायक हो सकते हैं]।

(३)

विधवा विवाह वा नियोग

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥
१०।१८।८॥

(नारि) हे नारी ! (जीवलोकम्) जीवितों के लोक के (अभि) प्रति (उदीर्ष्व) उठ, (एतम्) इस (गतासुम्) मृत के (उप) समीप (शेषे) तू सो रही है, (एहि) आ। (हस्तग्राभस्य) पाणिग्रहण करने वाले, (दिधिषोः) और तेरे धारण करने की इच्छा वाले, (तव पत्युः) तेरे पति के (इदम्) इस (जनित्वम्) जननकर्म के (अभि) प्रति (सं बभूव) तू संगत हो गई है।

["दिधिषोः पत्युः" द्वारा प्रतीत होता है कि धारण-पोषण करने की इच्छा वाले, और निजहस्त का सहारा देनेवाले इस द्वितीय पति के साथ विधवा का पुनर्विवाह है। और यदि "तव पत्युः" का अभिप्राय पूर्व का पति है, तब विधवा का नियोग प्रतीत होता है। "शेषे" द्वारा शोकातुर नारी के बेहोश हो जाने की अवस्था में समीप लेटने का कथन हुआ है। नियोग के लिये भी विवाह-संस्कार होना चाहिये ताकि नियोग में कामचारिता का प्रवेश न हो सके]।

(४)

मृत्यु के पैर उखाड़ना नृत्य हंसी का जीवन, पत्नी का मान।

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ॥

(द्राघीयः आयुः) दीर्घ आयु को (प्रतरम्) और अधिक काल (दधानः) धारण करते हुए अर्थात् बढ़ाते हुए, और (मृत्योः पदम्) मृत्यु के पैर को (योपयन्तः) विमोहित करते हुए (यत्) जो (ऐत) गृहस्थ में तुम आए हो, तो तुम (प्रजया, धनेन) प्रजा और धन द्वारा (आप्यायमानाः) बढ़ते हुए, (शुद्धाः) आचरण से शुद्ध, और (पूताः) मन से पवित्र, और (यज्ञियासः) यज्ञयोग्य (भवत) होओ।

[योपयन्तः=युप विमोहने (दिवादिः); विमोहनः=वि+मुह वैचित्ये; अर्थात् चेतना से विगत कर देना, रहित कर देना। अभिप्राय यह कि मृत्यु निज पदन्यास करे या न करे, इसके ज्ञान से उसे रहित कर देना, उसका पदन्यास न होने देना। गृहस्थी यदि शुद्ध और पूत तथा यज्ञयोग्य है तो उसके गृहस्थ में मृत्यु का पदन्यास नहीं होता। वह दीर्घजीवी और वृद्धि को प्राप्त होता है]।

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥

१०।१८।३॥

(इमे) ये (जीवाः) जीवित जन (मृतैः) मृतों [के जीवन मार्गों] से (वि आववृत्रन्) लौट आए हैं, उन्हें छोड़ आए हैं, (अद्य) आज (नः) हमारी (देवहूतिः) परमेश्वर-देव सम्बन्धी हूति अर्थात् स्तुति-प्रार्थना (भद्रा) कल्याणकारिणी तथा सुखदायी (अभूत्) हुई है। (प्राञ्चः) हम प्रगति के मार्गों पर (अगाम) पहुंच गये हैं, और (द्राघीयः आयुः प्रतरं दधानाः) दीर्घायु को और अधिक काल तक धारण करते हुए हम (नृतये) नृत्य के लिये, (हसाय) तथा हंसी-खुशी के लिये [हुए हैं]।

[इमे जीवाः=पूर्ववर्ती मन्त्र १०।१८।२ में कथित गुणों से सम्पन्न जन। भद्रा=भदि कल्याणे सुखे च (भ्वादिः)। गृहस्थ का जीवन सरस होना चाहिए, इसे नृताय तथा हसाय द्वारा निर्दिष्ट किया है]।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥

१०।१८।७॥

(इमाः) ये (अविधवाः) जो कि विधवा नहीं है, (सुपत्नीः) व्यवहारों में जो उत्तम पत्नियां हैं, वे (आ अञ्जनेन) किंचित् अञ्जन अर्थात् सुरमे द्वारा [उत्तम नेत्रों वाली हुई], (सर्पिषा) तथा घृत सेवन द्वारा [सम्पुष्ट हुई] (सं विशन्तु) हमारे गृहों में सम्यक् विधि से प्रवेश करें। वे [हमारे गृहों में] (अनश्रवः) किसी भी दुःख

के कारण न रोएं, (अनमीवाः) रोगरहित रहें (सुरत्नाः) तथा उत्तम रत्नों को धारण करें, (जनयः) वे जननशक्ति से सम्पन्न हों, ऐसी पत्नियां (अग्रे) हम पतियों से पहले (योनिम्) गृह पर (आरोहन्तु) आरोहण करें।

[मन्त्र में विवाहयोग्य वधुओं का कथन कर, गृहजीवन में उनके सुखी रहने का वर्णन हुआ है। विवाह में वधू विधवा न होनी चाहिए क्षतयोनि न होनी चाहिये, व्यवहारों में ऐसी होनी चाहिए कि विवाह के पश्चात् वे उत्तम पत्नियां कहला सकें, उनकी आंखें नीरोग होनी चाहिए और वे घृत आदि सेवन द्वारा परिपुष्ट होनी चाहियें, ताकि गृहजीवन में वे "जनयः" हो सकें, स्वस्थ सन्तानोत्पादन कर सकें। गृहजीवन में वे सदा आनन्द प्रसन्न होकर, रोगरहित होकर, उत्तमरत्नों को धारण किया करें। उनके सत्कार और मान के लिये पति, उन्हें, अपने से पहिले, गृह में प्रविष्ट होने दें। "आ रोहन्तु" द्वारा गृह को सीढ़ियों वाला दर्शाया है। योनिः गहनाम (निघं० ३(४)]।

(५)

वीर माता की भावनाएं

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः॥ १०।१५९।१॥

(असौ सूर्यः) वह सूर्य (उद् अगात्) उदित हुआ है (अयम् मामको भगः) यह मेरा सौभाग्य (उद्) मानों उदित हुआ है। (अहम्) मैं (तत्) उस सौभाग्य को (विद्वला) प्राप्त हुई (पतिम् अभि) पति की साक्षात् (असाक्षि) सेवा करती हूं, या उसे प्राप्त करती हूं, (विषासहिः) और विघ्न-बाधाओं का पराभव करती हूं।

[विद्वला=विद्लृ लाभे+वलच्। असाक्षि—षच् सेवने (भ्वादिः), षच् समवाये (भ्वादिः)। समवायः=प्राप्तिः]।

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी ।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥ १०।१५९।२॥

(अहम्) मैं (केतुः) गृह-जीवन में ध्वजरूप हूं, (अहम्) मैं (मूर्धा) मुखिया हूं, (अहम्) मैं (उग्रा) उग्र होकर (विवाचनी) गृहसमस्याओं का विवेक पूर्वक कथन करने वाली हूं,। इसलिये (सेहानायाः) विघ्नबाधाओं का पराभव करने वाली के (क्रतुम्, अनु) विचारों और कर्मों के अनुकूल (पतिः) पति (उपाचरेत्) मेरे समीप विचरे।

[विवाचनी=यथा विवाकः (judge; या प्राड्विवाक् आप्टे) । क्रतुम्=क्रतुः प्रज्ञानाम; तथा कर्मनाम (निघं ३।६; २।१)। प्रज्ञा=विचार] ।

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् ।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥ १०।१५९।३॥

(मम पुत्राः) मेरे पुत्र (शत्रुहणः) शत्रुओं का हनन करने वाले हैं, (अथो) और (मे दुहिता) मेरी पुत्री (विराट्) राज्य करने वाली है।। (उत) तथा (अहम् अस्मि) मैं हूं (संजया) सम्यक् विजयिनी, (पत्यौ) पति के सम्बन्ध में (मे श्लोकः) मेरी कीर्त्ति (उत्तमः) उत्तम है।

[पत्नी कहती है कि यद्यपि मेरे पुत्र शत्रुओं का हनन करने वाले वीर हैं, और मेरी पुत्री राज्य करने वाली है, तो भी मैं पति की सेविका हूं (मन्त्र १), इस कारण पति के सम्बन्ध में मेरी उत्तम कीर्ति है, उत्तम यश है]।

विराट्=Aruling Queen (ग्रिफिथ)] ।

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते ।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥
१०।८६।९॥

(अयम्) यह (शशरुः) हिंसक स्वभाव वाला व्यक्ति (माम्) मुझे (अवीराम्, इव) वीरता से रहित के सदृश अर्थात् निर्बल

(अभिमन्यते) मानता है, (उत) परन्तु (अहम्, अस्मि) मैं हूं (वीरिणी) वीरपुत्रों वाली, (इन्द्रपत्नी) सम्राट् की पत्नी, (मरुत्सखा) शत्रुओं को मारने वाले सैनिकों की सखी। (इन्द्रः) सम्राट् तो (विश्वस्मात्) सबसे (उत्तरः) उत्कृष्टशक्ति वाला है।

[स्त्री का अपमान या उस पर आक्रमण करने वाले को शरारुः [शृ हिंसायाम्] कहा है। मरुतः हैं सैनिक। यथा, देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनामग्रे यन्तु मरुतः (यजु० १६।४०)]।

(६)

पितृयज्ञ

उपहूता पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥

१०।१५।५॥

(बर्हिष्येषु) यज्ञ में प्रदेय (प्रियेषु निधिषु) प्रिय निधियों के निमित्त (सोम्यासः) सौम्य स्वभाव वाले (पितरः) पितर (उपहूताः) सत्कारपूर्वक आमन्त्रित हुए हैं। (ते आगमन्तु) वे आएं, (ते) वे (इह) इस यज्ञ में (श्रुवन्तु) हमारी प्रार्थनाओं को सुनें, (अधिब्रुवन्तु) अधिकार पूर्वक उत्तर दें, (ते) वे (अस्मान्, अवन्तु) हमारी रक्षा करें।

[बर्हिष्येषु—बर्हि का अर्थ है कुशा। मन्त्र में बर्हिः शब्द उपलक्षक है यज्ञ का, बर्हिः सम्बन्धी यज्ञ का। पितरों को निधियों अर्थात् सम्पत्तियों के प्रदान का वर्णन है। मृतपितरों का सम्पत्तियों से क्या प्रयोजन। तथा मन्त्र के उत्तरार्द्ध में उनका आना, प्रार्थनाओं का सुनना, और उत्तर प्रदान करना, या उपदेश देना—जीवित पितरों में ही सम्भावित है]।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥

१०।१५।६॥

(जानु) घुटने को (आच्य) टेक कर, (दक्षिणतः निषद्य) और हमारे दाएं ओर बैठकर, (विश्वे) आप सब (इमम् यज्ञम्) इस पितृयज्ञ को (अभिगृणीत) ग्रहण करो, स्वीकार करो। (पितरः) हे

पितरो ! (पुरुषता) मनुष्य होने के कारण (यत्) जो (वः) तुम्हारे प्रति शिष्टाचार में (आगः) गलती या अपराध (कराम) हम करें, तो (केनचित्) किसी भी गलती या अपराध के कारण (नः) हमारी (मा हिंसिष्ट) हिंसा न करो।

[घुटने टेक कर बैठना जीवित पितरों में ही सम्भव है। मृत पितरों का शरीर तो भस्मीभूत हो गया, तो उनके घुटने कहां होने हुए। हिंसा का अभिप्राय है मानसिक हिंसा। क्रोध के कारण डांटना आदि।

(७)

दान-भावना

अदि॑त्सन्तं चिदाघृणे॒ पूष॒न्दाना॑य चोदय।
प॒णेश्चि॒द्वि म्र॑दा॒ मनः॑ ॥ ६।५३।३॥

(आघृणे) आदाता से पूर्ण घृणा करने वाले (पूषन्) तथा पुष्टि करने वाले हे परमेश्वर ! (अदित्सन्तम्) दान न देना चाहते को (चित्) भी (दानाय) दान के लिये (चोदय) प्रेरित कर। (पणे ! चित्) कन्जूस वणिक् के भी (मनः) मन को (विम्रद) विशेष मृदु कर दे [दान देने के लिये]।

(आघृणे) आगता घृणा यस्मिन्, अदातारं प्रति, सः आघृणिः परमेश्वरः। परमेश्वर को "पूषम्" कहा है, वह सबको परिपुष्ट करता है, निज रचनाओं के द्वारा। अतः जो निज धन द्वारा निर्धनों का पालन-पोषण नहीं करता, उसके प्रति, परमेश्वर घृणा करता है]।

न वा उ॑ दे॒वाः क्षुध॒मिद्व॒धं द॑दुरु॒ताशि॑त॒मुप॑ गच्छन्ति मृ॒त्यवः॑।
उ॒तो र॒यिः पृ॑ण॒तो नोप॑ दस्यत्यु॒तापृ॑णन्मर्डि॒तारं॒ न वि॑न्दते ॥
१०।११७।१॥

(देवाः) दिव्य शक्तियों ने (क्षुधम्) क्षुधा को (वधम्, इत्) वधरूप में ही (न, वै, उ, दधुः) निश्चय से नहीं दिया (उत) तथा

(आशितम्) खाने वाले को भी (मृत्यवः) मृत्यु आदि कष्ट (उपगच्छन्ति) प्राप्त होते हैं। (उत उ) और (पृणतः) पालन करने वाले का (रयिः) धन (न उपदस्यति) क्षीण नहीं होता, (उत) तथा (अपृणन्) पालन न करता हुआ (मर्डितारम्) किसी सुखदायी व्यक्ति को (न विन्दते) नहीं प्राप्त करता।

[दिव्यशक्तियों ने जो क्षुधा दी है वह भोजन के लिये है जिससे कि स्वास्थ्य बढ़े, न कि इसलिये कि अन्नाभाव से उसकी मृत्यु हो जाए। खाते हुए को भी तो मृत्यु आदि कष्ट प्राप्त होते ही हैं, अदानी को कोई भी सुखदायी व्यक्ति नहीं मिलता, उसके दुःख में उसका कोई सहायक नहीं होता]।

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोप जग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते॥
१०।११७।२॥

(यः) जो (अन्नवान् सन्) अन्न वाला होता हुआ (रफिताय) दुर्गति को प्राप्त हुए, (पित्वः चकमानाय) तथा अन्न की कामना (उपजग्मुषे) उपस्थित हुए (आध्राय) दरिद्र के लिये, (मनः स्थिरं कृणुते) मन को कठोर कर लेता है, (उत, उ, चित्) और (पुरा) उसे देने से पूर्व (सेवते) अन्न सेवन करता है (सः) वह किसी (मर्डितारम्) सुखदायक व्यक्ति को (न विन्दते) नहीं पाता।

[आध्रः=आधारयितव्यो दरिद्रः[1] (सायण, अथर्व० ३।१६।२)]।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥
१०।११७।५॥

(तव्यान्) धन में प्रवृद्ध व्यक्ति, (नाधमानाय) मांगते हुए का (पृणीयात् इत्) पालन करे ही, और (द्राघीयांसम्, पन्थाम्) जीवन के लम्बे मार्ग को (अनु) निरन्तर (पश्येत) देखे। (आ, उ, हि, वर्तन्ते)

---

१. दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्. (महाभारत)।

घूमते रहते हैं (रायः) धन, (रथ्या चक्रा इव) रथ के चक्रों की तरह और (रायः) धन (अन्यम्, अन्यम्, उपतिष्ठन्त) एक से दूसरे को उपस्थित होते रहते हैं, [अर्थात् लक्ष्मी चञ्चला है]।

[अभिप्राय यह कि धनवान् व्यक्ति जीवन के लम्बे मार्ग को सदा ध्यान में रखे। न जाने कब वह भी धन से विहीन हो जाए। लक्ष्मी चञ्चला है। यह एक से दूसरे को पहुंचती रहती है, रथ के चक्रों की तरह स्थान बदलती रहती है। यह विचार कर मांगते हुए का पालन करे ही]।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

१०।११७।६॥

(अप्रचेताः) अज्ञानी व्यक्ति (मोघम्) व्यर्थ में (अन्नम्, विन्दते) अन्न प्राप्त करता है, (सत्यम्, ब्रवीमि) सत्य मैं कहता हूं कि (सः) वह अन्न (वधः इत्) वध ही है (तस्य) उसका, जो (न) न (अर्यमणम्) न्यायकारी परमेश्वर के नाम पर, और (न सखायम्) न मित्र का (पुष्यति) पोषण करता है, वह (केवलादी) अकेला खाने वाला मानो (केवलादी) केवल या अकेला पापी होता है।

[अन्नवान् व्यक्ति, जो न तो परमेश्वर के प्रसादनार्थ याचना करने वाले का पोषण करता है, न मित्रों का ही, वह अन्न उसके लिये वधरूप हो जाता है, सहानुभूति और धार्मिक भावना के अभाव में उसका आत्मिक वध हो जाता है, यह सत्य है। वह अकेला अन्न खाता हुआ केवल पापी होता है, या मानों पाप का केवल भक्षण करता है। गीता में भी कहा है "भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" (गीता ३।१३), अर्थात् वे पापी पाप को खाते हैं, जो केवल अपने लिये ही अन्न पकाते हैं। अपने परिवार के लिये भी अन्न पकाना, अपने लिये ही अन्न पकाना है, क्योंकि अपने परिवार में स्वकीय भावना ही होती है]।

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे।
यदहं गोपतिः स्याम॥ ८।१४।२॥

(शचीपते) हे कर्मों और प्रज्ञाओं के पति परमेश्वर ! (यत्) यदि (अहम्) मैं (गोपतिः) गौओं का स्वामी (स्याम) हो जाऊं तो मैं (अस्मै मनीषिणे) इस मेधावी [शिक्षार्थी] को (शिक्षेयम्) शिक्षित कर दूं, और तदर्थ धनप्रदान भी करना चाहूं।

[शिक्षा के प्रसार के लिये योग्य शिक्षार्थियों को, साधारण धनिक द्वारा भी छात्रवृत्ति देने का विधान मन्त्र में हुआ है]।

विशेष—सामाजिक जीवन और राष्ट्रिय जीवन का मूलाधार दान है। आश्रम-व्यवस्था में ब्रह्मचारी की शिक्षा, उसका आवास, तथा खान-पान निःशुल्क होता है, प्रजा द्वारा दान और भिक्षावृत्ति पर आश्रित होता है। गृहस्थ जीवन में ५ महायज्ञों का विधान है। ऋषियज्ञ, देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र, भूतयज्ञ, अतिथियज्ञ, तथा पितृ-यज्ञ। इनमें देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र, वायुशुद्धि द्वारा सर्वोपकारी होता हुआ सबको सुख पहुंचाता है। अग्निहोत्रो के धन द्वारा यह निष्पन्न होता है। अतः इसमें भी दानभावना की सत्ता है। अतिथि यज्ञ में तो घर आए अतिथि को सेवा करनी होती है, यह सेवा भी दानाश्रित है। पितृयज्ञ में वानप्रस्थो माता-पिता आदि का पालन-पोषण करना होता है। इसमें भी दानभावना को सत्ता है। भूतयज्ञ में प्राणिमात्र की सेवा का भाव ओत-प्रोत है। यथा—

"शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ मनु० ३।९२॥

इस श्लोक में कुत्ते, पापी, चाण्डाल, पापरोगी, कौए और कृमि अर्थात् चोंटी आदि को भी अन्न देने का विधान हुआ है। इसमें भी गृहस्थी की दानभावना प्रेरिका है। आश्रम-व्यवस्था में वानप्रस्थी और संन्यासी भी भिक्षावृत्ति के कारण गृहस्थी के दान पर आश्रित रहते हैं। वर्ण-व्यवस्था में भो कमाऊ केवल वैश्य है। शेष वर्णधर्मी वैश्य द्वारा प्रदत्त "राज्यकर" पर तथा स्वेच्छया प्रदत्त "दान" पर जीवनचर्या करते हैं। वैदिक राष्ट्र में राज्य "कर" भी स्वेच्छा पूर्वक दिया जाता है, बलप्रयोग द्वारा नहीं। इसलिये राज्य "कर" को हव: तथा बलि कहते हैं। वैदिक दृष्टि में राज्य भी यज्ञरूप है। अतः इस यज्ञ में अर्थ प्रदान अर्थाहुतिरूप है। यह भी जानना चाहिये कि वेद में

अदाता को अराति अर्थात् समाज और राष्ट्र का शत्रु कहा है। अराति =अ+रा(दाने)+ति; अर्थात् दान न देने वाला शत्रुरूप है। इस दानभावना की दृष्टि से व्याख्यात मन्त्रों में दानभावना की परिपुष्टि की गई है]।

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः।
ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः।

५।४२।८॥

(तव ऊतिभिः) तेरी रक्षाओं के साथ (सचमानाः) संगत हुए (बृहस्पते) हे महाब्रह्माण्ड के पति! (अरिष्टाः) रोगादि द्वारा अहिंसित, (मघवानः) धनवान् तथा (सुवीराः) उत्तम वीर या उत्तम सन्तानों वाले होते हैं। (ये) जो कि (अश्वदा) अश्वदान करते हैं, (उत वा) अथवा (गोदाः) गोदान करते हैं, (ये) जो (वस्त्रदाः) वस्त्र दान करते हैं, (तेषु) उनमें के (रायः) धन (सुभगाः) सौभाग्यशाली होते हैं।

[नकद दान की अपेक्षा वस्तुदान को श्रेष्ठ कहा है]।

विसर्माणं कृणुहि वित्तमेषां ये भुञ्जते अपृणन्तो न उक्थैः।
अपव्रतान्प्रसवे वावृधानान्ब्रह्मद्विषः सूर्याद्यावयस्व॥

५।४२।९॥

(ये) जो (भुञ्जते) स्वयं तो खाते हैं, और (उक्थैः) वैदिक सूक्तों के कथनानुसार (नः) हमारा (अपृणन्तः) पालन नहीं करते, (एषाम्, वित्तम्) इनके धन को (विसर्माणम्) विसरणशील (कृणुहि) कर दे। (अपव्रतान्) सत्कर्मों से रहित, (प्रसवे) उत्पन्न जगत् में (वावृधानान्) धन-सम्पत् में वृद्धिशली, (ब्रह्मद्विषः) वैदिक कर्मों के द्वेषी व्यक्तियों को (सूर्यात्) सूर्य से (यावयस्व) पृथक् कर दे।

[मन्त्र ८ में कथित बृहस्पति के प्रति धनिकों के विरुद्ध निर्धनों की पुकार मन्त्र में हुई है। अपव्रतान्=अप (रहित)+व्रत (उत्तम कर्म) व्रतम् कर्मनाम (निघं० २।१)]।

---

(१)

राजा का निर्वाचन आदि

आ त्वाहार्षमन्तरैधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥
१०।१७३।१॥

(त्वा) तुझे (आहार्षम्) मैं लाया हूं, (अन्तः) मन्त्रिमण्डल में (एधि) आ, और (अविचाचलिः) विना विचलित हुए (ध्रुवः) स्थिर रूप में (तिष्ठ) राजासन में स्थित हो । (सर्वाः विशः) सब प्रजाएं (त्वा) तुझे (वाञ्छन्तु) चाहें, (राष्ट्रम्) राष्ट्र (त्वत् अधि) तुझसे (मा भ्रशत्) छीना न जाए, या पतनोन्मुख न हो ।

[मन्त्र में निर्वाचित होने वाले व्यक्ति का वर्णन है । राजा एक राष्ट्र का अधिपति होता है, और साम्राज्य है "संयुक्त-राष्ट्र राज्य" । प्रधानमन्त्री चाहता है कि राष्ट्र की सब प्रजाएं उस द्वारा नियुक्त किए व्यक्ति को राजारूप में निर्वाचित करें, और निर्दिष्ट किए व्यक्ति से चाहता है कि वह इस प्रकार प्रजा का शासन करे कि वह अविचल रूप में स्थिर शासक बना रहे, और राष्ट्र उससे छीना न जाए, या उसके शासन से राष्ट्र पतनोन्मुख न हो] ।

इममिन्द्रो अदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवत्तस्मा उ ब्रह्मणस्पतिः ॥ १०।१७३।३॥

(इन्द्रः) साम्राज्य के अधिपति सम्राट् ने (ध्रुवेण हविषा) स्थिर रूप में प्राप्त "कर" धन द्वारा, (इमम्) इस राष्ट्रपति राजा को (ध्रुवम्) स्थिर बनाए रखने के लिये (अदीधरत्) धारित-पोषित किया है । (तस्मै) उस राष्ट्रपति राजा के लिये (सोमः) सोम, (उ) तथा (ब्रह्मणस्पतिः) वेदविद्या का पति (अधि) स्वाधिकार से (ब्रवत्) परामर्श दिया करें ।

[इन्द्रः="इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७) के अनुसार इन्द्र है सम्राट्, साम्राज्य का अधिपति; और राजा है राष्ट्र का अधिपति। राजा को वरुण कहा है, चूंकि राष्ट्रपति परस्पर मिल कर सम्राट् का "वरण" निर्वाचन करते हैं और स्वयं भी प्रजा द्वारा निर्वाचित होते हैं। सोम है सेनाध्यक्ष, यथा "इन्द्र आसां नेता बृहस्पति दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः"। देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्"(यजु० १७।४०)में सोम को सेना के "पुरः" आगे-आगे चलने वाला कहा है। ब्रह्मणस्पति, वेदोपदिष्ट राजनीति अर्थात् प्रजाशासन आदि के सम्बन्ध में परामर्श देता है।

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ १०।१७३।५॥

हे प्रजाजन! (राजा वरुणः) वरुण राजा (ते राष्ट्रम्) तेरे राष्ट्र को (ध्रुवम्) स्थिर रूप में [धारित करे], (देवः बृहस्पतिः) विजिगीषु बृहती सेना का पति (ध्रुवम्) स्थिर रूप में [धारित करे] (इन्द्रः च) और सम्राट् (अग्निः च) तथा साम्राज्य का अग्रणी प्रधानमन्त्री (ते राष्ट्रम्) तेरे राष्ट्र को (ध्रुवम्) स्थिर रूप में (धारयताम्) धारित करें।

[राष्ट्र है राजा का क्षेत्र। परन्तु साम्राज्य के प्रत्येक राष्ट्र की स्थिरता के लिये साम्राज्य के अधिकारियों का सहयोग होना चाहिए। राष्ट्रों की सुरक्षा तथा धारण-पोषण के आश्रय पर ही साम्राज्य को रक्षा, तथा धारण-पोषण सम्भव है। क्योंकि राष्ट्रों का समूह ही तो साम्राज्य है। राजा तो निज राष्ट्र की रक्षा आदि करेगा ही। परन्तु राष्ट्र के विपत्तिग्रस्त होने पर साम्राज्य ही विपत्ति से उसे बचा सकता है। "देव बृहस्पति" है साम्राज्य की बृहती-सेना का अधिपति जो कि विजिगीषु है। देवः="दिवु क्रीडाविजिगीषा" आदि (दिवादिः)। राष्ट्र के मूलभूत स्वामी हैं, प्रजाजन। प्रजाजनों के ही प्रतिनिधि हैं राष्ट्राधिकारी प्रजाजनों और प्रजाजनों की आजादी और सम्पत्ति की सुरक्षा के लिये। इसलिये प्रजाजन मन्त्र में सम्बोधित किये हैं]।

(२)

राष्ट्र-बलि=कर

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि।
अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत् ॥ १०।१७३।६॥

(ध्रुवेण) स्थिर (हविषा) हवि (सैन्य सहायता) द्वारा, (ध्रुवम्, सोमम्) स्थिर रूप में सोमनामक सेनाध्यक्ष को (अभि मृशामसि) हम तेरे साथ सम्बद्ध करते हैं। (अथो) और तब (इन्द्रः) सम्राट् (विशः) प्रजाओं को (ते) तेरे लिये (केवलीः) सेवा करने वाली, तथा (बलि-हृतः[1]) "कर" देने वाली (करत्) करे।

[सोम है राष्ट्र की सेना का अध्यक्ष और संचालक। और बृहस्पति (मन्त्र ५) है साम्राज्य की बड़ी सेना का पति। साम्राज्य के अधिकारी सोम को आश्वासित करते हैं कि आवश्यक अवस्था में हम; सैन्य द्वारा, तेरी सहायता करते रहेंगे। मन्त्र में "ते" द्वारा राष्ट्र के राजा को कहा है कि इन्द्र अर्थात् सम्राट् तेरी प्रजाओं को तेरी सेवा करने वाली तथा तुझे नियम से 'कर' प्रदान करने वाली कर देगा। (केवलीः)=केवृ (सेवने)+ला आदाने, (भ्वादिः; अदादिः); अतः केवलीः=सेवा लाने वाली सेविकाएं]।

(३)

विप्रराज्य

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ॥
८।३।४॥

---

१. बलि="कर"। यथा "प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्" (रघुवंश १।१८)। "बलि" शब्द द्वारा "कर" की अल्पता, और धार्मिकता सूचित की है अर्थात् बलिप्रदान और बलिग्रहण, ये धार्मिक कार्य हैं। ये प्रजा की समृद्धि के लिये हैं। राज्याधिकारियों की समृद्धि के लिये नहीं। राज्याधिकारियों को त्यागभावना से "करांश" का ग्रहण करना चाहिये।

(अयम्) यह [इन्द्र=सम्राट्] (सहस्रम्, ऋषिभिः) हजारों ऋषियों द्वारा (सहस्कृतः) बलशाली किया गया, (समुद्रः इव) समुद्र के सदृश (पप्रथे) साम्राज्य में फैल जाता है, प्रख्यात हो जाता है। (विप्र राज्ये) मेधावी ब्राह्मणों के राज्य में, (यज्ञेषु) यज्ञां में या यज्ञियकर्मों में, (अस्य) इस [इन्द्र] की (सः महिमा) वह महिमा (सत्यः) सत्य हो जाती है, (शवः) [इसकी महिमा और] इसके बल का (गृणे) मैं कथन करता हूं।

[जहां मेधावी ब्राह्मणों अर्थात् वेदवेत्ताओं और ब्रह्मज्ञों का राज्य होता है वहां हजारों ऋषि पैदा हो जाते हैं, और इन्द्र का बल समुद्रवत् फैल जाता है। मन्त्र का देवता है इन्द्र, और आधिभौतिकार्थ में इन्द्र है सम्राट् (यजु० ८।३७)। सहः बलनाम (निघं० २।९), शत्रु को पराभूत करने का बल, साहस। शवः=सामान्य बल। अथवा शवः धननाम (निघं० २।१०)]।

यो नः स्वो अरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्॥ ६।७५।१९॥

(यः) जो (स्वः) अपना प्रजावर्ग (अरणः) तथा जो पराया प्रजावर्ग, (यः च) और जो (निष्टयः) निज राष्ट्र से निकाल दिया गया प्रजावर्ग (नः) हमारा (जिघांसति) हनन करना चाहता है, (तम्) उसका (सर्वे देवाः) राष्ट्र के सब विजिगीषु सैनिक (धूर्वन्तु) हनन करें। (मम) मेरा (वर्म) कवच (आन्तरम् ब्रह्म) मेरे भीतर (ब्रह्म) ब्रह्म है।

[प्रधानमन्त्री ब्राह्मणस्वभाव का प्रतीत होता है, जो कि निज-हृदय में ब्रह्म की स्थिति को अनुभव करता हुआ, राज्यशासन में शासक है। वह स्वयं किसी हिंसक प्रजावर्ग को दण्ड नहीं देना चाहता। वह राष्ट्र के सैनिकों द्वारा दण्ड देने का निर्देश करता है, स्वयं की रक्षा के लिये वह स्वान्तर्निष्ठ ब्रह्म को ही रक्षक मानता है, जिसे कि वह अपना कवच समझता है। देवाः="दिवु क्रीडा-विजिगीषा" आदि (दिवादिः) अर्थात् विजिगीषु सैनिक। "स्वः"= निजप्रजावर्ग जो कि राजविद्रोही होकर राष्ट्रशासकों का हनन करना

चाहता है। अरणः=अ+रणः (रण शब्दे, भ्वादिः), अर्थात् जिनके साथ शाब्दिक-व्यवहार भी नहीं, बोलचाल का सम्बन्ध भी नहीं, ऐसा शत्रुराष्ट्र] । निष्टचः=निः निकाल दिया गया] ।

(४)

द्यूत-निषेध

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥

१०।३४।१३॥

(अक्षैः) द्यूत के पासों द्वारा (मा दीव्यः) न द्यूतक्रीडा कर, (कृषिम् इत् कृषस्व) खेत को ही जोत अर्थात् कृषि द्वारा अन्न-धन प्राप्त कर, (वित्ते) और प्राप्त धन में (रमस्व) रमण कर, प्रसन्न रह, (बहुमन्यमानः) इस प्राप्त धन को बहुत मान। (तत्र) उस कृषि-कर्म में (गावः) गौओं की प्राप्ति है, (तत्र) उसमें (जाया) पत्नी की प्राप्ति है, (अयम् सविता) इस उत्पादक (अर्यः) जगत् के स्वामी ने (मे) मुझे (तत्) उस तत्त्व को (विचष्टे) विशेषरूप में कहा है।

[मन्त्र से यह भाव प्रकट होता है कि मन्त्रप्रोक्ता को परमेश्वर द्वारा प्रेरणा हुई है कि द्यूतक्रीडा न कर। वित्ते=विद्लृ लाभे+क्तः, अर्थात् कृषि आदि द्वारा प्राप्त धन] ।

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः ।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥

१०।३४।५॥

(यदा) जब (आदीध्ये) मैं विचारता हूं कि (एभिः) इन अक्षों अर्थात् पासों द्वारा (न दविषाणि) नहीं द्यूतकर्म करूं, तब (परायद्भ्यः) पराङ्मुख हुए (सखिभ्यः) सखाओं से (अवहीये) मैं हीन हो जाता हूं, उन द्वारा परित्यक्त हो जाता हूं। परन्तु (न्युप्ताः) फैंके गए (बभ्रवः) भूरे वर्ण वाले अक्ष अर्थात् पासे (वाचम् अक्रत) जब आवाज करते हैं, तब (एषाम्) इन अक्षों के लिये (निष्कृतम्) तय्यार

किये हुए स्थान पर (एभि इत्) मैं आ ही जाता हूं, (जारिणी इव) जैसे व्यभिचारिणी व्यसन द्वारा प्रेरित हुई, निज जार के पास आ ही जाती है।

[द्यूतकर्म है तो हेय, परन्तु द्यूतकर्म की हेयता को जानता हुआ, और यह विचारता हुआ कि भविष्य में मैं द्यूतकर्म नहीं करूंगा, व्यसन द्वारा अभिभूत हुआ वह पुनः द्यूतकर्म में प्रवृत्त हो जाता है। अतः इस द्यूतकर्म में पड़ना ही न चाहिये, ताकि यह व्यसनरूप होकर उसे द्यूतकर्म में पुनः पुनः प्रेरित न करता रहे। अव हीये= अव+ओहाक् त्यागे (जुहोत्यादिः)]।

(५)

दुष्कर्मियों का विनाश

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

७।१०४।२२॥

(उलूकयातुम्) उल्लू की चाल वाले, (शुशुलूकयातुम्) शीघ्रता से धनापनयन करने वाले की चाल वाले, (श्वयातुम्) कुत्ते की चाल वाले, (उत) और (कोकयातुम्) कोक की चालवाले (जहि) मार, (सुपर्णयातुम) गरुड़ की चाल वाले, (उत) और (गृध्रयातुम्) गीध की चाल वाले (रक्षः) राक्षस को (इन्द्र) सम्राट्! तू (प्र मृण) हिंसित कर, मार डाल, (इव) जैसे कि (दृषदा) पत्थर द्वारा, खल्वों अर्थात् चनों को पीस दिया जाता है।

[उलूकयातुम्=उल्लू का विचरना रात्रि में होता है। इस द्वारा रात्रि के चोर जाति का निर्देश हुआ है। शुशुलूकयातुम्=शु+शु (क्षिप्रनाम्[1])+लूक, (लुञ्च, अपनयने) भ्वादिः। अर्थात् अति-शीघ्रता से धनापनयन करने वाले, दिन में डाकू की सी चाल वाले का निर्देश हुआ है। श्वयातुम्=कुत्ते के सदृश मानों चापलूसी में पूंछ हिलाने वालों की चाल का निर्देश। कोकयातुम्=अति कामी की आचार-संबन्धी चाल का निर्देश। सुपर्णयातु=सुपर्ण है गरुड़, यह सांपों

१. "आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः" (निरुक्त ६।१।१)।

का दुश्मन है। मन्त्र में, उपचार द्वारा, राष्ट्र या समाज का दुश्मन अभिप्रेत है। गृध्र=गीध,गर्धा वाला, लोभी-लालची, जो धन का अति लालची है,और केवल स्व भरण-पोषण ही करता है तथा राष्ट्र और प्रजा की उन्नति के निमित्त धन नहीं देता। वेदों में ऐसे लालचियों को इसीलिये "अराति" शत्रु कहा है, अ+रा (दाने)। मृण=हिंसायाम् (तुदादिः)। दृषदा=दृषद् द्वारा खल्वों को पीसने का कथन (अथर्व० २।३१।१), यथा "दृषदा खल्वाँ इव"। खल्वान्=चणकान् (सायण)। इन्द्रः=सम्राट् "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। मन्त्र में इन ६ प्रकार के व्यक्तियों को रक्षः अर्थात् राष्ट्र के राक्षस कहा है।

(६)

निरामिष भोजन

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम॥१०।४३।१०

(गोभिः) गौओं के दुग्ध आदि द्वारा (दुरेवाम्) दुष्परिणामी (अमतिम्) मतिहीनता का (तरेम) हम अपनयन करें (पुरुहूत) हे बहुतों द्वारा पुकारे गए परमेश्वर! (विश्वाम्) सब प्रकार की (क्षुधम्) क्षुधा का (यवेन) जौ द्वारा [हम अपनयन करें]। (राजभिः) राजाओं के सहयोग द्वारा, (वयम्) हम प्रजाजन, (प्रथमा धनानि) दुग्ध और यवरूपी मुख्य धनों को (अस्माकेन) हम दोनों के (वृजनेन) बल अर्थात् प्रयत्न द्वारा (जयेम) जीतें।

[गोभिः=क्षीरादिगोरसैः, "अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवत् निगमा भवन्ति" (निरुक्त २।२।५)। गोभिः में बहुवचन का अभिप्राय है गोदुग्ध, दधि, पनीर आदि। वेद में "यव तथा व्रीहि" को स्वास्थ्यप्रद, प्राणापानरूप तथा यक्ष्मापहारी[1] कहा है। इसलिये क्षुधानिवृत्ति

---

१. शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ। एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः॥ (अथर्व० ८।२।१८)॥ अबलासौ=शारीरबलस्य अक्षेप्तारौ, बलकरावित्यर्थः (वेंकट माधव)। अदोमधौ=खाने पर मधुर। ये दोनों

के लिये इसे श्रेष्ठ अन्न माना है (अथर्व० ८।२।१८) राजवर्ग और प्रजावर्ग दोनों मिलकर यत्न करें कि राष्ट्र में दुग्ध और यव प्रभूत-मात्रा में हो सकें, यही इन धनों पर विजय प्राप्ति है। मति की जड़ता के अपनयन में गोदुग्ध, दधि आदि को सर्वश्रेष्ठ कहा है।

(७)

वैराग्य-भावना से शासन

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥
१०।५३।८॥

(अश्मन्वती) पथरीली-संसार-नदी (रीयते) बह रही है, (सं रभध्वम्) परस्पर मिलकर [इसके सन्तरण के लिये] यत्नारम्भ करो, (उत्तिष्ठत) उठो, (सखायः) हे मित्रो ! (प्रतरत) इसे तैर जाओ। (अत्र) यहीं (जहाम) हम त्याग देते हैं उन्हें (ये) जो (अशेवाः) अशिव मार्ग (असन्) थे, (शिवान्) शिव (वाजान् अभि) मार्गों को लक्ष्य करके (वयम्) हम (उत्तरेम) उत्कृष्ट होकर संसार नदी तैर जांय।

[अश्मन्वती=संसारनदी योगमार्गियों के लिये पथरीलो है, कष्ट-दायिका है, पञ्चक्लेशों से युक्त है। यथा "अविद्यास्मितारागद्वेषा-भिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः" (योग २।३)। रीयते=रीङ् स्रवणे (दिवादिः)। स्रवण=बहना। वाजान्=मार्गान्, वज गतौ (भ्वादिः)।

"व्रीहि यव" यक्ष्मरोग की भी बाधा या निवृत्ति करते, तथा पाप करने की भावना से भी मुक्त करते हैं—

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते ।
यवे ह प्राण आहितो पानो व्रीहिरुच्यते ।। (अथर्व० ११।६।१३)

व्रीहि और यव, प्राण और अपान हैं। प्राण है शरीररथ का वहन करने वाली शक्ति। यव में प्राण निहित है, और व्रीहि अपानरूप कहा जाता है।

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो
वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ १।१०५।८॥

(सपत्नीः इव) सपत्नियां जैसे पति को, वैसे (अभितः) दोनों ओर की (पर्शवः) पसलियां (मा) मुझे (सं तपन्ति) संतप्त करती हैं। (मूषः) चूहे (न) जैसे (शिश्ना) अन्नलिप्त सूत को, या [स्नेह लिप्त] निज पुच्छादि को (व्यदन्ति)काटते हैं या खाते हैं, वैसे(शत-क्रतो) हे शतविध कर्मों के कर्ता परमेश्वर ! (ते) तेरे (स्तोतारम्) स्तोता (मा) मुझको (आध्यः) मानसिक चिन्ताएं (व्यदन्ति) काट रहीं हैं, या खा रही हैं।(मे) मेरी(अस्य) उस अवस्था को (रोदसो) द्युलोक और भूलोक [के निवासी] (विदुः) जानते हैं।

[पर्शवः का अर्थ है पसलियां। शरीर की पसलियों के भीतर हृदय है, और हृदय के अन्तर्गत है मन, और मन के अन्तर्गत हैं "आधियां" अर्थात् मानसिक चिन्ताएं। इन चिन्ताओं से व्यथित हुआ स्तोता, परमेश्वर के प्रति निवेदन करता है कि, तेरे स्तोता को भी आधियां काट रही हैं, और खाए जा रही हैं, परन्तु इनसे तू मुझे बचा नहीं रहा। सांसारिक चिन्ताओं के कारण विरक्त हुए स्तोता का यह कथन है।

मन का निवास हृदय में है। यथा "हृदये चित्तसंवित्" (योग ३।३४)। शिश्ना="आस्नातानि सूत्राणि" अन्न से लिप्त सूत; "स्वाङ्गाभिधानं वा" या मूषक का निज अङ्ग (निरुक्त ४।१।६)। सपत्नियों द्वारा पति के संतप्त हो जाने के वर्णन से पति के लिये एक पत्नी का विधान भी हुआ है। मन्त्रोक्त भावनाओं को निम्न मन्त्रों द्वारा और स्पष्ट किया है। यथा—

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
नि बाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेर्न वेवीयते मतिः ॥१०।३३।२॥

[इस मन्त्र में सपत्नियों और आधियों के कारण हुई अमति अर्थात् मति की जड़ता, नग्नता अर्थात् दारिद्रय, जसु अर्थात् उपक्षय, मति अर्थात् बुद्धि के काम्पते रहने का अधिक कथन हुआ है। तथा—

मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत् सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव ॥
१०।३३।३॥

(मन्त्र के पूर्वार्ध का अभिप्राय मन्त्र १।१०५।८ के उत्तरार्द्ध के सदृश है । तथा इस मन्त्र के उत्तरार्ध में यह कहा है कि हे इन्द्र अर्थात् परमेश्वर ! हमें सकृत् एक बार तो सुखी कर दे [आधियों से बचा कर], इस प्रकार हमारे पिता के सदृश तू हमारा रक्षक हो जा) ।

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् ।
मृळा सुक्षत्र मृळयं ॥७।८९।१॥

(वरुण) हे पापों से निवारण करने वाले ! (राजन्) हे जगत् के राजा ! (अहम्) मैं (मृन्मयम्) मिट्टीमय (गृहम्) शरीर-गृह में (मो=मा, उ) न (गमम्) मैं जाऊं । (मृळ=मृळ) हे सुख देने वाले ! (सुक्षत्र) क्षतियों से त्राण करने वाले ! (मृळय) मुझे [मोक्ष का] सुख प्रदान कर ।

[शरीर मृन्मय-गृह है । यह मिट्टी अर्थात् पृथिवी का रूप है । यथा "पृथिव्याः शरीरम् (अथर्व० ५।१०।८), तथा "पृथिवी शरीरम्" (अथर्व० ५।९।७) । मोक्षाभिलाषी शरीर गृह में पुनः न जाने की प्रार्थना करता है । सु=पदपूरण है] ।

यदि शासन में वैराग्यभावना के साथ शासन किया जाय तो शासक वर्ग में आर्थिक-भ्रष्टाचार समाप्त हो जाए । विरक्त शासन का ज्वलन्त उदाहरण है राजा जनक ।

स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य के साधन

(१)

हविर्यज्ञ[1] तथा शक्ति संचार

यदि॑ क्षि॒तायु॒र्यदि॑ वा॒ परे॑तो॒ यदि॑ मृ॒त्योर॑न्ति॒कं नीत ए॒व ।
तमा ह॑रामि॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्था॒दस्पा॑र्षमेनं श॒तशा॑रदाय ॥
१०।१६१।२॥

(यदि) चाहे (क्षितायुः) मनुष्य क्षीण आयु हो गया है, (यदि वा) अथवा चाहे (परेतः[2]) प्रेत हो गया है (यदि) चाहे (मृत्योः अन्तिकम्) मृत्यु के समीप (नीतः एव) पहुंच ही गया है। (तम्) उसे (आ हरामि) में वापिस छीन लाता हूं (निर्ऋतेः) कष्ट की (उपस्थात्) गोदी से, यतः (एनम्) इसे (अस्पार्षम्) मैंने हस्त-स्पर्श कर दिया है, (शतशारदाय) सौ शरत्-काल तक [जीवित] रहने के लिये।

[मनुष्य की शतायु के लिये वैदिक-चिकित्सक कहता है कि (१) चाहे व्यक्ति क्षीणायु हो जाय, चाहे मृत्यु की गोद में पहुंच जाय, चाहे वस्तुतः मर जाय, तब भी वह "निज हस्त स्पर्श" द्वारा शक्ति संचार कर उसे शतायु कर देता है। "हस्तस्पर्श" द्वारा शक्ति संचार में निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है, यथा—

---

(१) यज्ञिय हविः, तथा विद्युत् और सविता का सेवन तथा परमेश्वरीय कृपा,—जीवन को बढ़ाते और १०० वर्षों तक की आयु प्रदान करते हैं। मन्त्र (१०।१६१।४)।

(२) "परेतः" का शब्दार्थ है "परे चला गया, दूर चला गया"। अर्थात् 'चिकित्सा का तू विषय नहीं रहा। तो भी मैं वैदिक चिकित्सक स्पर्श द्वारा तुझ में शक्ति का संचार कर तुझे, सौ वर्षों तक जीवित रहने योग्य कर देता हूं। या परेतः=प्रेतः। तब भी वैदिक-चिकित्सक रुग्ण शरीर को स्पर्श द्वारा स्वस्थ करके उसे पुनरुज्जीवित्त करने की आशा दिलाता है। यह समस्या विचाराधीन है।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि ॥
(अथर्व० ४।१३।७१; ऋक् १०।१३७।७) ।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ (अथर्व० ४।१३।६;
तथा ऋक्० १०।६०।१२) ।

दस शाखाओं [अङ्गुलियों] वाले दो हाथों की अपेक्षया वाणी सम्बन्धिनी-जिह्वा आगे-आगे गमन करती है। रोग-रहित करने वाले उन दो हाथों द्वारा तेरा हम स्पर्श करते हैं॥ (४।१३।७)।

यह मेरा हाथ [बायाँ] भगों वाला है, और यह मेरा हाथ [दायाँ] उससे अधिक भगों वाला है। यह मेरा [बायाँ] सब रोगों का औषध है, और यह [दायाँ] शिवकारी स्पर्श वाला है। अथर्व० (४।१३।६) ।

इन दो मन्त्रों में दो हाथों की १० अङ्गुलियों को फैलाकर, और वाणी द्वारा रोगी को आश्वासन देकर, रोगी को स्पर्श करने का विधान हुआ है। भग=ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा। साथ ही यह भी निर्दिष्ट किया है कि हस्तस्पर्श से पहिले, वाणी द्वारा रोगी को आश्वासन देना चाहिये कि तू स्वस्थ हो जायेगा। इस प्रकार स्वस्थ होने के दो उपाय निर्दिष्ट किये हैं, (१) आश्वासन; (२) खुली अङ्गुलियों वाले दोनों हाथों द्वारा रोगी का स्पर्श। उच्चकोटि के महात्माओं और योगियों, तथा दृढसंकल्पी जनों में, वाणी और हस्तों द्वारा शक्ति-संचार कर रोगोन्मुक्त कर देने की शक्ति होती है।

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतमिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥
१०।१६१।४॥

बढ़ता हुआ तू सौ सर्दियों जीवित हो, सौ हेमन्तकाल और सौ वसन्तकाल [जीवित हो]। इन्द्र [विद्युत्], अग्नि [यज्ञियाग्नि], सविता [प्रातःकालीन सूर्य] तथा बृहस्पति [बृहत् जगत् के पति परमेश्वर] ने सौ वर्षों की आयु करने वाली हवि द्वारा तुझे पुनः हमें दिया है॥)

(२)

स्वच्छ, अन्तरिक्षीय वात

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे ।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ १०।१८६।१॥

(वातः) [अन्तरिक्षस्थ] वायु (भेषजम्) औषध को (आ वातु) हमारी ओर प्रवाहित करे, जो भेषज कि (नः हृदे) हमारे हृदयों के लिये (शंभु) शान्ति पैदा करने वाली या रोगों को शान्त करने वाली, तथा (मयोभु) सुखदायी है। वह (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (प्र तारिषत्) बढ़ाए।

[शुद्ध अन्तरिक्षस्थ वायु भेषजरूप है, हृदयों के रोगों को शान्त करती, हृदयों को सुख पहुंचाती, तथा आयुवर्धक है। मयः सुखनाम (निघं० ३।६)]।

यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः ।
ततो नो देहि जीवसे ॥ १०।१८६।३॥

(वात) हे वायु ! (यद् अदः) जो वह (ते गृहे) तेरे घर में (अमृतस्य निधिः) अमृत का खजाना (हितः) निहित है, (ततः) उसमें से [अमृतांश] (नः देहि) हमें दे, (जीवसे) जीने के लिये।

[वात में अमृत निहित है, जो कि जीवन का हेतु है,—इससे ज्ञात होता है कि वायु में एक विशिष्ट तत्त्व है जो कि जीवन का आश्रय है। वर्तमान वैज्ञानिक विद्वान् उसे oxygen [औषजन] कहते हैं।

(३)

प्राण-चिकित्सा

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ॥
१०।१३७।२॥

(इमौ) ये (द्वौ वातौ) दो वायुएं (वातः) गति करती हैं, (सिन्धोः आ) एक हृदय-सिन्धु से, और दूसरी (परावतः आ) दूर के

प्रदेश से। (अन्यः) दूर प्रदेश की वायु (ते) तेरे लिये (दक्षम्) बल (आ वातु) बहा लाए, (अन्यः) दूसरी अर्थात् हृदय-सिन्धु की वायु उसे (परा वातु) परे अर्थात् दूर (वातु) बहा दे, (यत्) जोकि (रपः) पापरूप हैं, गन्द रूप है, अर्थात् गन्दमयी हृदयस्थ वायु है।

[हृदय है सिन्धु। यथा सिन्धुसृत्याय जाताः" (अथर्व० १०।२०।११)। "परावतः" से आने वाली वायु बल लाती है, चूंकि उसमें "अमृत निहित" है (मण्डल १०।१८६।३)। और हृदय सिन्धु से जो वायु निकलती है वह "रपः" है, पापरूप है गन्दी है। यद्यपि वायु का स्थान फेफड़े हैं, हृदय नहीं। तथापि फेफड़ों में आई बाहर की वायु बलप्रद-वायु है, जो कि फेफड़ों में इकट्ठी हुई रक्तस्थ गन्दी वायु को बाहर निकाल कर शुद्ध रक्त को हृदय में भेजती है। "दक्षः बलनाम" (निघं २।६)। मन्त्र में "वातौ" द्वारा द्विविध-वात भी अभिप्रेत है। दिन-रात स्वभावतः चलने वाले श्वास-प्रश्वासरूप "वातौ", तथा प्राणायाम की विधि से संयमित "वातौ", ये दोनों प्रकार के "वातौ" बलप्रदान करते तथा "रपः" गन्दी वायु को दूर करते हैं। प्राणायाम-विधि से संयमित "वातौ" के अन्य लाभ भी हैं जोकि योगदर्शन में वर्णित हैं, यथा "ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" तथा "धारणासु च योग्यता मनसः" (योग २।५२।५३)]।

(४)

जल-चिकित्सा

आप इद्वा उं भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥१०।१३७।६॥

(आपः) जल (इत् वै उ) निश्चय से ही (भेषजीः) भेषज है, रोगनिवारक है, (आपः) जल (अमीवचातनीः) रोगजनक-जीवाणुओं [अमीवा] का नाशक है (आपः) जल (सर्वस्य) सब रोग समूह का (भेषजीः) भेषज है, (ताः) वह जल (ते) हे रोगी! तेरे (भेषजम्) रोगों का निवारण (कृण्वन्तु) करें।

[भेषजीः=भिषज् चिकित्सायाम् (कण्ड्वादिः)। चिकित्सा=कित रोगापनयने (भ्वादिः) अमीवा=अम रोगे (चुरादिः) सम्भवतः "अमीवा-जीवाणु"]।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥ १०।९।६॥

(सोमः) जगदुत्पादक परमेश्वर ने (मे) मुझे (अब्रवीत्) कहा है कि (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (विश्वानि भेषजा) सब औषधें हैं, (च) और (अग्निम्) उसमें अग्नि है (विश्वशंभुवम्) जो कि सब रोगों को शान्त करती है ।

[जलनिष्ठ अग्नि, विद्युत् रूप में, जलों में प्रकट होतो है । जल-निष्ठ अग्नि विद्युत् रूप है, Electricity है । परमेश्वर ने, वैदिक ऋषि को, वेद द्वारा यह ज्ञान प्रदान किया है] ।

इदमापः प्र वहत यत् किं च दुरितं मयि ।
यद् वाहमभि दुद्रोह यद् वा शेप उतानृतम् ॥
१०।९।८॥

(आपः)हे जलो ! (यत् किं च)जो कुछ(मयि) मुझमें (दुरितम्) पापकर्म द्वारा दुष्परिणाम पैदा हुआ है (इदम्) इसे (प्रवहत) प्रवाहित कर दो, (यद् वा) अथवा जो (अहम्) मैंने (अभिदुद्रोह) द्रोह किया है, (यत् वा) वा जो (शेपे) मैंने शाप दिया है, (उत) और (अनृतम्) अनृतभाषण किया है [उस सब को प्रवाहित कर दो] ।

["प्रवहत" द्वारा प्रतीत होता है कि प्रवाहित होते हुये नदी जल में जल-चिकित्सा करनी चाहिये । इससे मानसिक बुरे संस्कार भी प्रवाहित हो जाते हैं, अर्थात् जल चिकित्सा द्वारा मानसिक-रोग भी शान्त हो जाते हैं] ।

कतिपय वैज्ञानिक तथ्य

(१)

सृष्टि तथा सृष्टिक्रम

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १०।१९०।१॥

(ऋतम् च) नियम व्यवस्था, और (सत्यम् च) सत्य वैदिक ज्ञान, (अभीद्धात्) आविर्भूत (तपसः अधि) परमेश्वरीय-ज्ञान से (अजायत) प्रकट हुए। (ततः) उसी ज्ञान से (रात्री) ब्राह्मी रात्रि (अजायत) प्रकट हुई, (ततः) उसी ज्ञान से (समुद्रः) अन्तरिक्षीय और पार्थिव समुद्र (अर्णवः) जलयुक्त प्रकट हुआ।

[तपसः="यस्य ज्ञानमयं तपः" (मुण्डक उपनिषद् १।१।९), परमेश्वर का तप है ज्ञानमय। इसे उपनिषदों में आलोचनात्मक-ज्ञान भी कहा है, तथा कामना भी। "ऋत और सत्य" द्वारा ब्राह्मदिन[1], और "रात्री" द्वारा ब्राह्मीरात्रि[1] निर्दिष्ट की है। प्रतिदिन के "अहोरात्राणि" का निर्देश मन्त्र (२) में हुआ है। "समुद्रो अर्णवः" तक की उत्पत्ति "तपः" से कही है]।

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ १०।१९०।२॥

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ १०।१९०।३॥

(अर्णवात् समुद्रात् अधि) जल वाले समुद्र के पश्चात् (संवत्सरः) संवत्सर (अजायत) पैदा हुआ। (मिषतः) निमेषोन्मेष करने वाले

---

(१) ब्राह्मदिन=तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ॥ (मनु०) ॥ जगत्स्थितिकाल="दिन"। ब्राह्मी रात्रि=रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ (मनु) ॥ प्रलयस्थितिकाल=रात्रि।

प्राणिजगत् के (वशी) वशयिता अर्थात् उसे वश में करने वाले परमात्मा ने (अहोरात्राणि) दिनों और रातों का (विदधत्) विधान करते हुए, (धाता) धातृरूप होकर (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा को (यथापूर्वम्) पूर्वसृष्टि के अनुरूप (अकल्पयत्) रचा। तथा (दिवं च) द्युलोक को, (पृथिवीम् च) और पृथिवी को, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को, (अथो) और तत्पश्चात् (स्वः) सुख को रचा।

[समग्र सृष्टि परमेश्वरकर्तृक हुई, और पूर्वकल्प के अनुरूप हुई। समुद्र के रचने के पश्चात् संवत्सर काल हुआ। पृथिवी का एक पूरा परिभ्रमण, सूर्य की परिक्रमा रूप में, जब हो जाता है तब संवत्सर पैदा होता है, और संवत्सर के पैदा करने में भिन्न-भिन्न ऋतुकाल, निर्देशक होते हैं। यह तभी सम्भव है जबकि पृथिवी जलद्वारा ठण्डी और प्रकाशरहित हो जाय, और ताप तथा प्रकाश की भिन्न-भिन्न सत्ता में भिन्न-भिन्न ऋतुएं अनुभूत होने लगें।

दैनिक अहोरात्र सूर्य और चन्द्र की सत्ता पर आश्रित हैं। सूर्य की सत्ता में दिन, और चन्द्र की सत्ता में रात्रि आश्रित है। दिव्, पृथिवी, अन्तरिक्ष यह त्रिलोक हैं। "स्वः" का अभिप्राय है सुख, जिसके लाभ के लिये प्राणिजगत् इच्छुक तथा सचेष्ट रहता है। इस लिये भोगपूर्वक सुख प्राप्ति हो सके,—यह व्यवस्था भी परमेश्वर ने कर दी]।

(२)

सूर्य तथा सूर्य-परिवार

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे॥ १०।७२।१॥

(देवानाम्) सूर्यादि दिव्य पदार्थों की (जाना) उत्पत्तियों को (विपन्यया) स्तुति अर्थात् स्तवन द्वारा, कथन द्वारा (वयम्) मैंने (प्रवोचाम) प्रोक्त किया है, (उक्थेषु) वेदमन्त्रों का (शस्यमानेषु) कथन करते हुए [वेदों को प्रकट करते हुए], (यः) जोकि [पूर्व युग के सदृश] (उत्तरे युगे) आगामी युग में भी (पश्यात्) देखेगा, अर्थात् देवों की उत्पत्तियां जैसे पूर्वयुग में हुई हैं, इसी प्रकार आगामी युगों में भी होती रहेंगी,—इसे जो वेददाता परमेश्वर देखेगा।

[भाष्यकारों ने मन्त्र में "यः पश्यात्" के प्रयोग का व्यत्यय बहुवचन में किया है, यथा "ये वयं द्रक्ष्यामः"। परन्तु अर्थ दृष्ट्या मन्त्र के बहुवचनों को यहां एकवचन में परिवर्तित किया गया है। मन्त्र में परमेश्वरोक्ति अधिक सार्थक प्रतीत होती है। "वयम् और प्रवोचाम" दोनों प्रयोगों में बहुवचन का व्यत्यय एक वचन में किया गया है। जोकि "अस्मदो द्वयोश्च" [अष्टा० १।२।५९] द्वारा परिपुष्ट होता है। परमेश्वर की उक्ति है कि जैसे पूर्वयुगों अर्थात् पूर्वसृष्टिकालों में मैंने देवों के जन्म किये थे, तदनुरूप ही उत्तरकाल की सृष्टियों में मैं जन्म दूंगा,—यह मैं देखूंगा, इससे विपरीत जन्म न होगा। "यथापूर्वमकल्पयत्" (ऋ० १०।१९०।३) पश्यात्=लिङ् चात्र भविष्यति कालेऽपि" (उद्गीथभाष्य)]।

ब्र॒ह्म॑ण॒स्पति॑रे॒ता सं क॒र्मार॑ इवाधमत् ।
दे॒वानां॑ पू॒र्व्ये यु॒गेऽस॑तः॒ सद॑जायत ॥ १०।७२।२॥

(ब्रह्मणस्पतिः) बृहत्-ब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर ने (एता=एतानि) इन देवजन्मों के लिये (सम् अधमत्) सम्यक् प्रकार से, सृष्टिकाल के प्रारम्भ में धमाया, शब्द सहित अग्नि को प्रकट किया, (इव कर्मारः) जैसे कि लोहकार लोहे को धमाता है, सशब्द-अग्नियुक्त करता है। (देवानाम्) सूर्य आदि देवों के (पूर्व्ये युगे) प्राथमिक काल में (असतः) अनभिव्यक्त प्रकृति तत्त्व से (सद्) व्यक्त जगत् (अजायत) पैदा हुआ। [अधमत्=ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः (भ्वादिः)]।

दे॒वानां॑ यु॒गे प्र॑थ॒मेऽस॑तः॒ सद॑जायत ।
तदाशा॒ अन्व॑जायन्त॒ तदु॑त्ता॒नप॑द॒स्परि॑ ॥१०।७२।३॥

(देवानाम्) द्युतिमान् सूर्यादि के (प्रथमे) प्रथम अर्थात् प्रारम्भिक (युगे) युग में (असतः) अनभिव्यक्त प्रकृति-तत्त्व से (सत्) व्यक्त जगत् (अजायत) पैदा हुआ। (तत् अनु) उसके पश्चात् (आशाः) दिशाएं (अजायन्त) पैदा हुईं, (तत्) वह पृथिवी (उत्तानपदः परि) सूर्य से पैदा हुई।

[उत्तानपद्=सूर्य, इसके पद अर्थात् रश्मियां, ऊपर द्युलोक की ओर भी फैली होती हैं। वृक्षों के पद अर्थात् जड़ें नीचे भूमि में फैली होती हैं। परन्तु सूर्य की रश्मियां नीचे, ऊपर, तथा दाईं-बाईं ओर भी फैली होती हैं। ऊपर की ओर पादों का फैलना सूर्य की विशेषता है, अतः सूर्य को उत्तानपद् कहा है। सूर्य की रश्मियों को कविता में "पाद" भी कहते हैं, यथा "बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम्" (पंचतन्त्र), अर्थात् बाल अवस्था के सूर्य के भी पाद, भूस्वामियों, भूपतियों के सिरों पर गिरते हैं। दिशाओं का परिज्ञान सद् जगत् की उत्पत्ति के पश्चात् होता है। सूर्य, द्युलोक के तारा आदि, तथा पृथिवी की उत्पत्ति के पश्चात् ही दिशाओं की आपेक्षिक स्थिति दर्शाई जा सकती है।

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त ।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥१०।७२।४॥

(भूः) पृथिवी (जज्ञे) पैदा हुई (उत्तानपदः) सूर्य से, (भुवः) पृथिवी से (आशाः) दिशाएं (अजायन्त) पैदा हुईं। (अदितेः) अनश्वरा-प्रकृति से (दक्षः) दक्ष अर्थात् प्रजापति (अजायत) प्रकट हुआ, (दक्षात् परि उ) और दक्ष से (अदितिः) अदिति प्रकट हुई।

[उत्तानपद् से पृथिवी पैदा हुई। पृथिवी सूर्य परिवार की है। सूर्य से जैसे अन्य ग्रह पैदा हुए, इसी प्रकार पृथिवी ग्रह भी पैदा हुआ। दिशाओं की व्याख्या मन्त्र (३) में की गई है। अदितिः="अदीना देवमाता" (निरुक्त ४।४।२३, पद संख्या ४९)। अदिति=अ+दो अवखण्डने (दिवादिः); क्तिन् प्रत्यय परे ओकार को इकार (अष्टा० ७।४।४०), अथवा अ+दीङ् क्षये (दिवादिः)। अतः अदितिः= जिसका कि अवखण्डन या क्षय न हो, वह है प्रकृति। दक्ष=प्रजापति "उद्गीथ" [मन्त्र (५)], अर्थात् प्रजाओं का पति परमेश्वर।

अजायत=वैदिक सिद्धान्तानुसार अदिति [प्रकृति] और दक्ष [प्रजापति] दोनों नित्य हैं, उत्पन्न और विनष्ट नहीं होते। अतः इनकी उत्पत्ति अभिव्यक्तिरूपा है। अदिति, दक्ष की कामना तथा ईक्षण द्वारा रूपान्तरित होती है, और इस रूपान्तर में भी प्रकृति के रजस्, तमस्, सत्त्व आदि [गुण] अवयव यथावस्थित रहते हैं। यथा

"ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः" (योग ४।१३)। हमारे शरीर, इन्द्रियां तथा चित्त भी "गुणात्मानः" हैं, और शरीरादि के होते, समाधि'पूर्वक दक्ष [प्रजापति] का साक्षात्कार होता है, यह ही दक्ष की उत्पत्ति' है। इस दर्शन से पूर्व, दक्ष की दर्शनात्मक सत्ता न थी। यह कहा जा चुका है कि दक्ष की कामना और ईक्षण द्वारा अदिति के केवल रूपान्तरमात्र होते हैं, और प्रकृति के गुण अर्थात् अवयव इन रूपान्तरों में भी यथावस्थित रहते हैं। यह ही दक्ष से अदिति की उत्पत्ति है, जो कि आविर्भावमात्र है। अतः "उभयविध" उत्पत्ति में अदिति और दक्ष नित्यरूप ही रहते हैं।

अदि॑ति॒र्ह्यज॑निष्ट॒ दक्ष॒ या दु॑हि॒ता तव॑।
तां दे॒वा अन्व॑जायन्त भ॒द्रा अ॒मृत॑बन्धवः ॥१०।७२।५॥

(दक्ष) हे दक्ष ! प्रजापति ! (या) जो (तव) तेरी (दुहिता) कामनापूर्ण करने वाली (अदितिः) अनश्वर-प्रकृति है, वह (अजनिष्ट) कार्योत्पादनमुखो हुई है। (ताम् अनु) उसके उत्पादनमुखी होने के पश्चात् (देवाः अजायन्त) द्युतिमान् सूर्य, नक्षत्र, तारा आदि पैदा हुए हैं, (भद्राः) जो कि कल्याणकारी और सुखदायक हैं, (अमृतबन्धवः) तथा अमृत [दक्ष] जिनका बन्धु है, या उन्हें अपने-अपने कर्त्तव्यों में वान्ध रहा है।

[दुहिता=दुह प्रपूरणे (अदादिः)। वेदों में दुहिता पद यौगिकार्थक है। अथर्ववेद में "राजकोय सभा-समिति" को "दुहितरौ" कहा है (७।१३।१)। अदितिः [प्रकृति] अनश्वर है और अनुत्पन्न है। साम्यावस्था से विषमावस्था में होना अर्थात् कार्योत्पादनमुखी होना, यह उसका जन्म है उत्पत्ति है। "अमृतबन्धवः", यथा "स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा" (यजु० ३२।१०)।

यद्दे॑वा अ॒दः स॑लि॒ले सुसं॑रब्धा अति॑ष्ठत।
अत्रा॑ वो॒ नृत्य॑तामिव ती॒व्रो रे॒णुरपा॑यत ॥१०।७२।६॥

---

१. और व्युत्थानावस्था में परमेश्वर दर्शन के विलुप्त हो जाने पर, यह परमेश्वर का विनाश है।

(देवाः) हे द्युतिमान् सूर्यादि ! (यत्) जो तुम (अदः सलिले) उस कालिक दूरवर्ती उदकावस्था में (सुसंरब्धाः) तीव्र-प्रचण्ड हुए (अतिष्ठत) स्थित थे, (अत्र) इस अवस्था में (वः) तुम्हारी (तीव्रः रेणुः) तीव्र रेणु अर्थात् तीव्र मिट्टी या कणसमूह (अपायत) तुम से पृथक् हुआ, (इव) जैसे कि (नृत्यताम्) नाचते हुओं का रेणु पृथिवी से पृथक् होता है।

[सृष्टि के उत्पत्ति क्रम में एक सलिलावस्था आई। इस अवस्था में सूर्यादि देव उत्पद्यमानावस्था[1] में स्थित थे, और तीव्र प्रचण्डावस्था में थे। इस अवस्था में, सलिलावस्था वाली प्रकृति से जाज्वल्यमान कणसमूह उठे, जिन्हें कि रेणु कहा है। यह रेणुसमूह, क्रमानुसार, रेणुमय पृथिवी आदि ग्रहों में प्रकट हुए। सुसंरब्धा=सु, सम्, रभ (रभ राभस्ये, भ्वादिः)+क्त। राभस्य=शीघ्रकारिता, प्रचण्डता। अभिप्राय यह कि क्रमानुसार (१) सलिलावस्था, (२) देवों की गर्भावस्था में सलिल में स्थिति, (३) सूर्य (मन्त्र ७); (४) अदिति के आठ पुत्र रेणुरूप ग्रह, उपग्रह (मन्त्र ८, ९) आदि उत्पन्न हुए। "आदि" द्वारा उल्काओं तथा धूमकेतुओं का ग्रहण है]।

यद् देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन ॥१०।७२।७॥

(यथा) जैसे (यतयः) यति लोग (अपिन्वत) [सदुपदेशरूपी जल द्वारा प्रजाओं को] सींचते हैं, इस प्रकार (यद्) जो (देवाः) हे दिव्यशक्तियो ! तुमने (भुवनानि) भुवनों को सींचा, तब (अत्र) इस अवस्था में, (समुद्रे) जगत् की जलीयावस्था रूपी समुद्र में (आ गूळ्हम्) आवृत हुए (सूर्यम्) सूर्य को तुमने (आ अजभर्तन) निकाला, प्रकट किया।

[मन्त्रस्थ "समुद्रे" और मन्त्र (६) के "सलिले" का अभिप्राय एक ही है। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी" आदि (तैत्ति० उप० ब्रह्मानन्दवल्ली १)

---

१. जैसे कि मातृगर्भ में, उत्पद्यमानावस्था, डिम्ब [Foalus] अपूर्ण अर्थात् अविकसितावस्था में हलचल करते हैं।

इसमें भी आपः द्वारा जगत् की सलिल या समुद्र अवस्था का निर्देश हुआ है। इस अवस्था में सूर्य निगूढ था, छिपा हुआ था, जिसे कि दिव्यशक्तियों ने निकाला, आहृत किया। "अजभर्तन" में "हृ" धातु है, जिसका अर्थ है "हरण करना"। "हृग्रहोर्भः छन्दसि" द्वारा "हृ" के "हृ" को "भकार" हुआ है।

अ॒ष्टौ पु॒त्रासो॒ अदि॑ते॒र्ये जा॒तास्त॒न्व१॒स्परि॑।
दे॒वाँ उप॒ प्रैत्स॒प्तभिः॒ परा॑ मार्ता॒ण्डमा॑स्यत् ॥ १०।७२।८॥

(अष्टौ पुत्रासः) ८ पुत्र थे (ये) जो (अदितेः तन्वः परि) अदिति की तनू से (जाताः) उत्पन्न हुए थे। (सप्तभिः) ७ पुत्रों सहित अदिति (देवान्) दिव्यशक्तियों के (उप) समीप (प्रैत्) पहुंची, (मार्ताण्डम्) और सूर्य को उसने (परा आस्यत्) परे फैंक दिया।

[७ पुत्र=बुध, शुक्र, पृथिवी, मङ्गल, बृहस्पति, शनैश्चर और प्रत्यक्षदृष्ट चन्द्रमा। सूर्य पृथिवीवासी प्रजाओं से लगभग १० करोड़ मील दूर है, मानों परे फैंक दिया हुआ है। अदिति तो माता है, माता ने यह विचार किया कि यदि सूर्य को प्रजाओं के समीप रखा तो यह कहीं निज उग्रताप से प्रजाओं को उत्तप्त तथा भस्मीभूत न कर दे, इस लिये अदिति ने सूर्य को सुदूर परे फैंक दिया। सूर्य परिमाण तथा भार में वहुत बड़ा है, इसे करोड़ों मील दूर फैंकना माता के लिए सम्भव न था, इसलिये दिव्यशक्तियों द्वारा सहायतार्थ वह देवों के पास पहुंची। वेदों में वर्णन प्रायः कथानकरूप में होते हैं। तदनुसार मन्त्र में वर्णन हुआ है। अदिति माता है, देखो मन्त्र (४)। परास्यत्=परा+आ+असु क्षेपणे (दिवादिः)]।

स॒प्तभिः॑ पु॒त्रैरदि॑ति॒रुप॒ प्रैत्पूर्व्यं॑ यु॒गम्।
प्र॒जायै॑ मृ॒त्यवे॑ त्व॒त्पुन॑र्मार्ता॒ण्डमाभ॑रत् ॥ १०।७२।९॥

(सप्तभिः पुत्रैः) सात पुत्रों की प्राप्ति हेतु (अदितिः) अदिति माता, (पूर्व्यम्) पूर्व की दिव्यशक्तियों द्वारा कृत अर्थात् निर्मित (युगम्) युग के (उप) समीप (प्रैत्) पहुंची। (त्वत्) तथा (पुनः) तत्पश्चात् अर्थात् पहुंचने के पश्चात् उसने (मार्ताण्डम्) सूर्य को (आभरत्=आहरत्) छीन लिया।

[सप्तभिः पुत्रैः=हेत्वर्थ में तृतीया है। "हेतौ" (अष्टा० २।३।-२३), सहार्थ में नहीं। सूर्य तो सलिलसमुद्र में आगूढ है (मन्त्र ६,७) जिसेकि मन्त्र (६) में पूर्व्यं युग में स्थित कहा है। सूर्य की सत्ता अभी प्रकट नहीं हुई, और न सप्तपुत्र ही अभी सत्तावान् थे। इन ७ की सत्ता, अवान्तर सूर्य की सत्ता पर निर्भर है। पूर्वकाल अर्थात् पूर्व युग की दिव्य शक्तियों के अधीन सूर्य था, जिसे दिव्यशक्तियां छोड़ती न थीं। अतः अदिति माता ने अपने ८वें पुत्र को उनसे छीन लिया। छीनने का प्रयोजन है उत्पत्ति। उत्पत्ति और मृत्यु कालाश्रित हैं, और काल सूर्याश्रित है। सूर्य की अहर्निश गति पर ही काल की उत्पत्ति निर्भर है।

पूर्व्यम्="पूर्वैः कृतमिनयौ च" (अष्टा० ४।४।१३३)। युगम्= युगकाल एक लम्बा काल होता है। कलियुग का काल ४,३२,००० वर्षों का होता है। द्वापर, त्रेता, सतयुग का काल क्रमशः कलिकाल से द्विगुण, त्रिगुण तथा चतुर्गुण होता है (अथर्व० ८।३।२१)। "त्वशब्दपर्यायोऽत्र त्वत् शब्दः; त्वत्=एक मार्तण्डम्" (उद्गीथ); मार्ताण्डम्=मृतात् व्यृद्धादण्डाज्जातो मार्तण्डः (वेङ्कट माधव)।

(४)

प्रलय और विसृष्टि

न मृ॒त्युरा॑सीद॒मृतं॒ न तर्हि॒ न रात्र्या॒ अह्न॑ आसीत्प्रके॒तः।
आनी॑दवा॒तं स्व॒धया॒ तदेकं॒ तस्मा॑द्धा॒न्यन्न प॒रः किं च॒नास॑ ॥

१०।१२९।२॥

(तर्हि) उस समय (न मृत्युः आसीत्) न मृत्यु थी, (न अमृतम्) न "न-मरना" अर्थात् जीवन था, (न) और न (आसीत्) था (रात्र्याः अह्नः) रात्रि और दिन का (प्रकेतः) भेदज्ञान। (आनीत्) उस समय प्राण ले रहा था (एकम्) एक परमेश्वर तत्त्व या ब्रह्म, (अवातम्) बिना वायु के, (स्वधया) स्वनिष्ठ प्रकृति के साथ। (तस्मात्) उससे (अन्यत्) भिन्न (परः) और उससे पराशक्ति वाला या उत्कृष्ट (न) नहीं (किंचन) कुछ भी (आस) था।

[प्रलयकाल में एक ब्रह्म था। वायु भी न थी, ब्रह्म बिना वायु, प्राण ले रहा था; और उसके साथ ही प्रकृति भी थी, जो कि ब्रह्म-निष्ठा थी, अर्थात् कार्योत्पादनमुखी न थी। उस ब्रह्म से भिन्न, उस से उत्कृष्ट कोई वस्तु न थी। इसके अधीन जीवात्माएं तो थीं, जो कि उससे उत्कृष्ट न थीं।

तमं आसीत्तमंसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं संलिलं सर्वंमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिंहितं यदासीत्तपंसस्तन्महिना जायतैकंम्॥

१०।१२९।३॥

(अग्रे) पहिले अर्थात् प्रलयावस्था में (तमः) अन्धकार (आसीत्) था, (इदम्) यह दृश्यमान (सर्वम्) सब (तमसा) अन्धकार द्वारा (गूळम्) छिपा हुआ, (अप्रकेतम्) अज्ञात स्वरूप, तथा (सलिलम्) सद्-ब्रह्म में लीन (आः=आसीत्) था। (तुच्छ्येन) तुच्छ प्रकृति-तत्त्व द्वारा (यत्) जो (आभु) सर्वव्यापक (एकम्) एक ब्रह्म (अपिहितम्) मानों ढका हुआ (आसीत्) था, (तत्) वह (तपसः) निज-ज्ञान अर्थात् ईक्षण की (महिना) महिमा द्वारा (अजायत) प्रकट हुआ।

[तमः=अथवा "तमः प्रधाना प्रकृतिः"। उस समय न तो प्रकृति का रजोगुण और न सत्त्वगुण कार्यक्षम था, अपितु स्थितिशक्तिवाला तमोगुण निश्चल अवस्था में था। सलिलम्=सति ब्रह्मणि लीनम्, दृश्यमान जगत् सद्-ब्रह्म में लीन था। तुच्छ्येन=तु वृद्धौ, "सदा प्रवृद्ध ब्रह्म" में "शयन" किया हुआ प्रकृति-तत्त्व। अजायत=ब्रह्म के सम्बन्ध में "जन्" का अर्थ है प्रकट होना, न कि पैदा होना, देखो अथर्व० अनुवाक ४, पर्यायसूक्त ४। मन्त्र १-११ या २९ से ३९। आभु=आ सर्वत्र भवतीति]।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसंति निरंविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

१०।१२९।४॥

(अग्रे) सृष्ट्युत्पादन से पूर्व (कामः) कामना (समवर्तत)

वर्तमान हुई (तत्[1]) यह कामना (मनसो अधिरेतः) मानसिक वीर्यरूप थी, (यद्) जोकि (प्रथमम् आसीत्) पहिले प्रकट हुई थी। (कवयः) प्रज्ञानी महर्षियों ने (मनीषा) मानसिक इच्छा द्वारा (हृदि) हृदय में (प्रतीष्य) अन्वेषण करके (सतो बन्धुम्) सत् जगत् के बान्धने वाले ब्रह्म को (असति) असत् अर्थात् अनभिव्यक्त प्रकृति में (निर-विन्दन्) निश्चयपूर्वक जाना।

[सृष्टयुत्पादन से पूर्व ब्रह्म में कामना प्रकट हुई कि मैं सृष्टि पैदा करूं। यह कामना थी मानसिक वीर्यरूप। मनुष्य जीवन में पहिले काम जागरित होता है, पश्चात् वीर्य और तत्पश्चात् सन्तान। परन्तु ब्रह्म में जो काम प्रकट हुआ, वह काम ही वीर्यरूप था।

मनीषा=मनसः ईषा (इषु इच्छायाम् तुदादिः)। इकारस्य दीर्घः छान्दसः]।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥
१०।१२९।५॥

(एषाम्) इन [सत्त्व, रजस्, तमस्] की (रश्मिः) चमक या व्याप्ति (तिरश्चीनः) ताने-बाने की तरह (विततः) विस्तृत थी, (अधः स्वित्) नीचे की ओर (आसीत्) थी, (उपरिस्वित्) ऊपर की ओर भी (आसीत्) थी। (रेतोधाः) वीर्य को धारण करने वाले प्राणी भी (आसन्) प्रकट हुए थे, (महिमानः) तथा महापरिमाण वाले [सूर्य, ग्रह, चन्द्र, तारा आदि भी] (आसन्) पैदा हुए, (स्वधा) प्रकृति (अवस्तात्) नीची हुई, (प्रयतिः) और प्रयत्न (परस्तात्) उससे ऊपर अर्थात् श्रेष्ठ हुआ।

[रश्मिः=चमक या व्याप्ति, अश् व्याप्तौ; "अश्नोते रश च" (उणा० ४।४७)। मन्त्र में प्रकृति को नीचे की शक्ति तथा प्रयत्न को ऊपर की शक्ति दर्शाया है]।

---

१. तत् रेतः=कामना।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥
१०।१२९।६॥

(कः) कौन (अद्धा) सत्यरूप में (वेद) जानता है, (कः) कौन (इह) यहां (प्रवोचत्) प्रवचन कर सकता है, कह सकता है कि (कुतः) कहां से (आजाता) आई है, (कुतः) और कहां से (इयम्) यह (विसृष्टिः) विविध सृष्टि हुई है। (देवाः) विद्वान् (अस्य) इस जगत् के (विसर्जनेन) पैदा होने से (अर्वाक्) पीछे पैदा हुए हैं, (अथो) इसलिये (कः वेद) कौन जानता है (कुतः) कहां से (आ बभूव) विसृष्टि आ प्रकट हुई।

[विद्वान् कहते तो हैं कि विसृष्टि इस प्रकार पैदा हुई, परन्तु वेद मन्त्र निर्देश करता है कि वस्तुतः विसृष्टि की उत्पत्ति आदि के रहस्य को कोई नहीं जानता। "अद्धा सत्यनाम" (निघं॰ ३।१०)। अतः वेद में जो विसृष्टि के बारे में कथन हुआ है उसे ही श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना चाहिये]।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥
१०।१२९।७॥

(इयम्) यह (विसृष्टिः) विविध-सृष्टि (यतः) जिस से (आ बभूव) आ प्रकट हुई है, वही (यदि वा) सम्भवतः (दधे) धारण करता है (यदि वा न) या सम्भवतः नहीं धारण करता [यह मैं कह नहीं सकता]। (यः) जो (अस्य) इस जगत् का (अध्यक्षः) अध्यक्ष या अधिद्रष्टा है, जो कि (परमे व्योमन्) महाकाश में व्यापक है (अङ्ग) हे प्रिय! (सः) वह (वेद) जगत् के रहस्य को जानता है (यदि वा) अथवा (न वेद) नहीं जानता [यह भी मैं कह नहीं सकता]।

[वैदिक दृष्टि में जगत् में कर्ता के स्वरूप का तो प्रत्यक्ष दर्शन होता है, परन्तु उसकी कृतियों के सम्यक्-ज्ञान के सम्बन्ध में ज्ञेयाज्ञेय-वाद प्रतीत होता है। सर्वज्ञ की कृतियों के सम्बन्ध में पूर्णज्ञान अल्पज्ञ

जीवात्माओं के लिये असम्भव है। जैसे उपनिषद् में कहा है कि "अविज्ञातं विजानताम्" अर्थात् जो कहते हैं कि ब्रह्म विज्ञात है, विशिष्ट रूप में ज्ञात होता है, उन्हें ब्रह्म "अविज्ञातम्" विशिष्ट रूप में ज्ञात नहीं है। ज्ञान और विज्ञान में भेद है। ब्रह्म और उसकी कृतियों का ज्ञान तो सम्भव है, परन्तु विज्ञान नहीं। इसी प्रकार कहा है "यस्यामतं तस्य मतम्, मतं यस्य न वेद सः", अर्थात् जो यह कहता है कि ब्रह्मसम्बन्धी पूर्णज्ञान "मनन" द्वारा हो जाता है, वह नहीं जानता, और जो कहता है कि उस का ज्ञान "मनन" द्वारा नहीं हो सकता वह वस्तुतः ज्ञाता है। तथा "यो मन्ये सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनम्" और जो मानता है कि ब्रह्म "सुवेद" इति अर्थात् मैं ब्रह्म के सम्बन्ध में कहता हूं कि वह "सुवेद" है, वह निश्चय से कम जानता है, अल्प जानता है]।

(४)

पृथिवी का परिभ्रमण

अहुस्ता यदपदी वर्धत क्षाः शचीभिर्वेद्यानाम् ।
शुष्णं परि प्रदक्षिणिद्विश्वायवे नि शिश्नथः ॥ १०।२२।१४॥

(अहस्ता) विना हाथों की, (अपदी) बिना पैरों की (क्षाः) पृथिवी (वेद्यानाम्) ज्ञातव्य तत्त्वों के (शचीभिः) कर्मों या प्रज्ञाओं द्वारा (यत् वर्धत) जब धन-धान्यादि द्वारा बढ़ती है, तब वह (शुष्णम्) शोषण करने वाले सूर्य को (परि) परिवेष्टित करके (प्रदक्षिणित्) उसकी प्रदक्षिणा को प्राप्त करती है, तब (विश्वायवे) सब मनुष्यादि प्राणियों के लिये (नि शिश्नथः) हे परमेश्वर! उसे तू हिंसित कर देता है।

[मन्त्र में "क्षाः" द्वारा पृथिवी का वर्णन हुआ है। क्षा पृथिवीनाम (निघं १।१)। बिना पैरों के पृथिवी निजमार्ग पर चलती है, और बिना हाथों के, किसी का अवलम्बन लिये विना चलती है। यह ज्ञातव्य तत्त्वों के कर्मों या प्रज्ञाओं द्वारा धन-धान्य द्वारा वृद्धि को प्राप्त होती है, और मनुष्यादि प्राणियों का परिपालन करती है। परन्तु ग्रीष्म ऋतु में पृथिवी, जब सुखा देने वाले सूर्य की प्रदक्षिणा करती है, तब परमेश्वर मानो इस पृथिवी की हिंसा कर देता है, इस

के धन-धान्यादि से इसे वञ्चित कर देता है; ग्रीष्म ऋतु में अधिक गर्मी के कारण, तथा वर्षा न होने के कारण, नदी-नाले तथा लता वनस्पति आदि सूख जाते हैं,—यही पृथिवी की हिंसा है। मन्त्र में पृथिवी की सूर्य प्रदक्षिणा के वर्णन के साथ-साथ, उस द्वारा होने वाली भिन्न-भिन्न ऋतुओं के गुण-कर्मों का भी यत्-किंचित् कथन किया है। शचीभिः, "शची कर्मनाम (निघं० २।१); तथा शची प्रज्ञानाम (निघ० ३।९)। विश्वायवे=विश्व+आयवे; आयवः मनुष्यनाम (निघं० २।३)। श्नथति वधकर्मा (निघं २।१९)। प्रदक्षिणित्=छान्दस प्रयोग। सम्भवतः "प्रदक्षिणाम्+इत् (इण् गतौ, प्राप्तौ+क्विप् (कर्तरि)+तुक्। यथा "गतेस्त्रयोऽर्थाः, ज्ञानम्, गतिः, प्राप्तिश्च।

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १०।१८९।१॥

(अयम्) यह (गौ) गमनशील पृथिवीलोक, (पृश्निः) जो नाना वर्णों वाला है, (मातरम्) अन्तरिक्ष-माता [की गोद] में (असदत्) बैठा है, (पुरः) पूर्व की ओर (आ अक्रमीत्) पादविक्षेप कर रहा हैं, पग बढ़ा रहा है। (च) और (स्वः) उपतप्त (पितरम्) सूर्य पिता की ओर (प्रयन्) प्रयाण कर रहा है।

["गो" पद उभयलिङ्गी है, पुंलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग। पुंलिङ्ग दृष्टि गौः के लिये "अयम्" पद प्रयुक्त हुआ है। "गो" पद "गम्" धातु से निष्पन्न है। अतः गौः का अर्थ है "गतिशील"। तथा गौः पृथिवी नाम (निघं० १।१)। पृश्निः=प्राश्नुत एनं वर्णः" (निरुक्त २।१४), जिसे कि वर्ण प्राप्त या व्याप्त करता है। पृश्निः भूमिः (सायण ऋग्भाष्य १।२३।१०)। अक्रमीत्=क्रमु पादविक्षेपे (भ्वादिः) मातरम्=मातरिश्वा पद के व्याख्यान में "वायु के सम्बन्ध में कहा है कि "मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति" (निरुक्त ७।७।२६) पुरः द्वारा ज्ञात होता है कि पृथिवी पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ती हुई गति करती है। पिता है सूर्य। सब ग्रह सूर्य-पिता से उत्पन्न हैं। पृथिवी भी ग्रह है। मानो पृथिवी-पुत्री निज-पिता की ओर प्रयाण कर रही है। स्वः =उपतप्त, (स्वृ शब्दोपतापयोः भ्वादिः)। कवितारूप में पृथिवी द्वारा सूर्य की परिक्रमा को "पितरं प्रयन्" द्वारा दर्शाया है]।

(५)

चन्द्रमा का सूर्य द्वारा प्रकाशित होना

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् ।
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ १।८४।१५॥

(ह) निश्चय से (अत्र चन्द्रमसः, गृहे) यहां चन्द्रमा के घर में (त्वष्टुः) आदित्य की [रश्मियों] ने, (गोः नाम) सूर्य की रश्मि का नमन होना और उससे (अपीच्यम्) अपगत होना (अमन्वत) मान लिया, स्वीकृत कर लिया, (इत्था) यह सत्य है ।

[इत्था सत्यनाम (निघं० ३।१०) । अपीच्यम्=अपगमनम्=सूर्य से हटकर चन्द्रमा के घर चले जाना । अपीच्यम्=अप+अञ्चु गतौ । तथा निरुक्त यथा "अथाप्यस्मै एको रश्मिः चन्द्रमसं प्रति दीप्यते, आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति (१।५।६), तथा "सुषुम्णः सूर्य-रश्मिः चन्द्रमा गन्धर्वः" (यजु० १८।४०) । चन्द्रमा है गन्धर्व, सूर्य-रश्मिं धरतीति (निरुक्त २।२।६) । अभिप्राय यह कि सूर्य की सब रश्मियां आपस में मानो बहिनें हैं, मानो शेष रश्मियों ने, निज बहिन "एक सुषुम्ण रश्मि" का विवाह चन्द्रमा के साथ स्वीकृत कर उसे चन्द्रमा के घर जाने की अनुमति दे दी ।

(६)

कपोत=सामुद्रिक जहाज

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयध्वम् ।
संयोपयन्तो दुरितानि विश्वा हित्वा न ऊर्जं प्रपतात् पतिष्ठः ॥
१०।१६५।६॥

(विश्वा दुरितानि) दुर्भिक्ष सम्बन्धी सब प्रकार के दुष्परिणामों को (संयोपयन्तः) हटाते हुए, (ऋचा) ऋग्वेदोक्त विधि द्वारा (प्रणोदम्) प्रेरणीय अर्थात् संचालनीय (कपोतम्) जलीय जहाज को (नुदत) प्रेरित करो, संचालित करो; (इषम्) अन्न [का सेवन कर] (मदन्तः) हर्षित होते हुए तुम इसे (गाम्, परि, नयध्वम्) पृथिवी के सब ओर ले चलो; (नः) हमारे (ऊर्जम्) बलदायक और

प्राणदायक अन्न को (हित्वा) राष्ट्र में छोड़ कर (पतिष्ठः) शीघ्र पतन करने वाला, मानो शीघ्र उड़ जाने वाला कपोत (प्र पतात्) पुनः [अन्न लाने के लिये] उड़ जाय।

[कपोतः=कः(जल)+पोतः (जहाज)। "प्रपतात् तथा पतिष्ठः द्वारा पक्षी सदृश उड़ने वाला भी यह कपोत है, कबूतर सदृश है। हवाई-जहाजों की आकृति पक्षी के सदृश होती है। यह कपोत जल अर्थात् समुद्र में भी चल सकता है, और अन्तरिक्ष में भी। समुद्र द्वारा तथा अन्तरिक्ष द्वारा, इन दोनों मार्गों द्वारा, कपोत के सहारे अन्न संग्रह किया जा सकता है। इषम् अन्ननाम (निघं० २।७), अर्थात् अभीष्ट अन्न। ऊर्जम्=ऊर्क् अन्ननाम (निघं० २।७); ऊर्ज बल-प्राणयोः (चुरादिः)। ऊर्ज्=ऊर्क् अन्ननाम (निघं० २।७); ऊर्ज बलप्राणयोः (चुरादिः)। ऊर्ज् है बलदायक तथा प्राणदायक अन्न। "इष" है हर्षदायक स्वादु अन्न। इषम्=इषु इच्छायाम् (तुदादिः), स्वादु अन्न के लिये इच्छा होती है, और यह हर्षदायक भी होता है]।

(७)

आत्मन्वती नाव

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥
१।११६।३॥

(कश्चित्) कोई (ममृवान्) मृत-व्यक्ति (रयिम्, न) जैसे निज धन को त्याग देता है, वैसे (ह) निश्चय से (तुग्रः) तुग्र से (भुज्युम्) भोग्यसामग्री की इच्छावाले व्यापारी को (उदमेघे) समुद्र में (अवाहाः) बहने दिया। (अश्विना) हे दोनों अश्वियो! तुमने (तम्) उस भुज्यु को, (आत्मन्वतीभिः) मानो आत्मशक्तिवाली अर्थात् स्वशक्ति सम्पन्न, (अपोदकाभिः) उदक के सम्पर्क से रहित, (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्ष की ओर उड़ने वाली (नौभिः) नौकाओं द्वारा (ऊहतुः) उद्वहन किया, उसे समुद्र से उठाया।

[तुग्रः=तुजि धातु का यह प्रयोग है। तुज का अर्थ "बलादान" भी है। अतः "तुग्र" है, धनरूपी बल का आदान करने वाला महा-व्यापारी। वह भुज्यु को भोग्यसामग्री लाने के लिये मानो नौका द्वारा समुद्र में भेजता है। भुज्यु विपत्तिग्रस्त हो जाता है,परन्तु तुग्र उसे समुद्र में प्रवाहित होने देता है। "अश्विनौ" ये दो विमानों के Pilots अर्थात् संचालक प्रतीत होते हैं, जोकि कई विमानों द्वारा भुज्यु को सुरक्षित रूप में समुद्र से उठा लेते हैं। ये नौकाएं यन्त्रों के सहारे उड़ने वाली हैं, यह "आत्मन्वतीभिः" द्वारा ज्ञात होता है। इस पद द्वारा उड़ने में नौकाओं की निजशक्ति प्रदर्शित की है। मन्त्र १।११६।४ में इन नौकाओं को "पतङ्गैः" कहा है। जैसे पतङ्ग निज पंखों के सहारे, स्वात्मशक्ति द्वारा, अन्तरिक्ष में उड़ते हैं, वैसे ये नौकाएं भी उड़ती हैं। मन्त्र १।११६।४ में "षडश्वैः" पद भी पठित है, इस द्वारा रथों में "६ अश्व" जुते कहे हैं, सम्भवतः "षडश्वैः" द्वारा ६ **Horse Power** के **Engines** को सूचित किया है। नहीं तो समुद्र और हवाई-नौकाओं में ६ अश्वों का क्या प्रयोजन ?]।

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदा लभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥ १०।१५५।३॥

(अदः) वह (यद्) जो (अपूरुषम्), बिना पुरुष के, (दारू) काष्ठनिर्मित या दुर्गतिविदारक [प्लव=नौका] (प्लवते) गति करती है, (दुर्हणः) हे दुर्गति के हनन करने वाले! (तद्) उस का (आलभस्व) अवलम्बन ले, (तेन) उस द्वारा (सिन्धोः पारे) समुद्र के पार (परस्तरम्) दूर देश में (गच्छ) जा।

[सिन्धोः=समुद्रस्य (वेंकटमाधव)। मन्त्र में अलक्ष्मी के द्वारा उत्पन्न दुर्गति के हनन का वर्णन है। यह प्लव, विना पुरुष के प्लवन करता है। दारु=काष्ठ; तथा दॄ विदारणे (क्र्यादिः)। प्लवते=प्लुङ् गतौ (भ्वादिः)। विना पुरुष के, दारु अर्थात् काष्ठनिर्मित "प्लव" का संचालन किसी यन्त्र द्वारा संचालन को सूचित करता है। मन्त्र में दारु द्वारा समुद्रपार के दूर देशों में जाना व्यापार का सूचक है। व्यापार से अलक्ष्मी अर्थात् लक्ष्मी के अभाव से उत्पन्न दुर्गति का हनन किया जा सकता है। मन्त्र का देवता है "अलक्ष्मीघ्न"।

(८)

लोहे की खान

यद्ध प्राचीरजंगन्तोरो मण्डूरधाणिकोः ।
हुता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्बुदयाशवः ॥

१०।१५५।४॥

(मण्डूरधाणिको:) मण्डूर की निधियां [mines] (यद्) जो कि (प्राची:) पूर्व की ओर (अजगन्त) गई हैं, तथा जो (उर:) अन्य खनिज धातुएं हैं [उन द्वारा] (इन्द्रस्य) ऐश्वर्य के (सर्वे शत्रव:) सब शत्रु (हता:) मारे गए हैं, और (बुद्बुदयाशव:) जल के बुलबुलों के सदृश शीघ्र चले जाते हैं, हट जाते हैं।

[मण्डूर है लोहे की कच्ची धातु। इसकी निधियां अर्थात् खानें [mines] पूर्व दिशा में विद्यमान हैं। यथा बिहार, उड़ीसा, बंगाल में। तथा कोरिया, मंचूरिया, फिलीपाईन आदि पूर्व देशों में। मन्त्र में पूर्व दिशा तथा पूर्व के प्रदेशों की मण्डूरनिधियों का निर्देश किया है ["प्राची:" द्वारा]। मन्त्रस्थ उर:=उरस् शब्द का अन्वय अन्य पदों के साथ नहीं प्रतीत होता। यह "मण्डूरधाणिकी:" के सदृश भिन्नार्थक प्रतीत होता है। सम्भवत: उर:=उरस् ore, ores की भावना को प्रकट करता है। यह "उर:=उरस्" मण्डूर-निधियों से अन्य निधियों का द्योतक है, यथा "सुवर्ण" आदि की निधियां। Aurum का अर्थ है gold [सुवर्ण]। Aurum शब्द उर:, उरस् का अपभ्रंश प्रतीत होता है। इन्द्रस्य=इन्द्र है ऐश्वर्य या ऐश्वर्य का उत्पादक वणिक्। यथा "इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि" (अथर्व० ३।१५।१)। इन्द्र अर्थात् वणिक् के शत्रु हैं अलक्ष्मी, दुर्भिक्ष, अवर्षा आदि। बुद्बुदयाशव:=बुद्बुद्+अय् (गतौ, भ्वादि:) आशु, अर्थात् शत्रु जोकि जल के बुलबुलों से सदृश शीघ्र चले जाते हैं, मिट जाते हैं।

(९)

तामसास्त्र

अ॒मीषां॑ चि॒त्तं प्र॑तिलो॒भय॑न्ती गृहा॒णाङ्गा॒न्य॑प्वे॒ परे॑हि ।
अ॒भि प्रेहि॒ निर्द॑ह हृ॒त्सु शोकै॑र॒न्धेना॒मित्रा॒स्तम॑सा सचन्ताम् ॥
१०।१०३।१२॥

(अमीषां) इन शत्रुओं की (चित्तम्) चेतनता को (प्रतिलोभयन्ती) हरते हुए, (अप्वे) हे दूर जाने वाले अस्त्र ! (अङ्गानि) उनके अङ्गों को (गृहाण) पकड़ ले, जकड़ दे, (परेति) दूरस्थित शत्रुओं की ओर तू जा। (अभि प्रेहि) उनकी ओर जा, (हृत्सु) हृदयों में (शोकैः) शोकों द्वारा (निर्दह) उनका दहन कर,(अमित्राः) शत्रु (अन्धेन तमसा) अन्धा कर देने वाले अन्धकार से (सचन्ताम्) संयुक्त हो जायें।

[अस्त्र का नाम है "अप्वा", अप (हमसे हट कर)+वा (गति करने वाला, अस्त्र)। यह अस्त्र कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक से शत्रुओं को रहित कर देता है, उनके चित्तों की चेतनता का अपहरण कर देता, और उनके शरीराङ्गों को निश्चेष्ट कर देता है, और शत्रुवर्ग में अन्धकार फैला कर उन्हें मानों अन्धा कर देता है]।

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

वेद-विषयक ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदभाष्य** (संस्कृत हिन्दी; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)—प्रति भाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां प्रथम भाग ४०-००. द्वितीय भाग ३५-००, तृतीय भाग ४०-०० ।

२. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**—ऋषिदयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण । प्रथम भाग ११५-००, द्वितीय भाग ५०-०० ।

३. **तैत्तिरीय-संहिता**—मूलमात्र, मन्त्र-सूची सहित । ५०-००

४. **तैत्तिरीय संहिता-पदपाठः**—५० वर्ष से दुर्लभ ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन, बढ़िया सुन्दर जिल्द १००-०० ।

५. **अथर्ववेदभाष्य**—श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय कृत । ९-१० काण्ड ४०-००; ११-१३ काण्ड ३५-००; १४-१७ काण्ड ३०-००; १८-१९ काण्ड २५-००; बीसवां काण्ड २५-०० ।

६. **ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित एवं शतशः टिप्पणियों से युक्त । साधारण जिल्द ३०-००, पूरे कपड़े की ३५-०० ।

७. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट**—भूमिका पर किए गये आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये उत्तर । मूल्य ४-००

८. **माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ**—शुद्ध संस्करण । ४०-००

९. **गोपथ-ब्राह्मण (मूल)**—सम्पादक श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि । अब तक प्रकाशित सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण । मूल्य ५०-००

१०. **वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक लिखित वेदविषयक १७ विशिष्ट निबन्धों का अपूर्व संग्रह । अप्राप्य

११. **कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी**—(ऋग्वेदीया)—षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित । टीका का पूरा पाठ प्रथम बार छापा गया है। विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त । मूल्य १००-००

१२. **ऋग्वेदानुक्रमणी**—वेङ्कट माधवकृत। इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है। व्याख्याकार—श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। उत्तम संस्करण ३५-००; साधारण २५-००

१३. **वैदिक-साहित्य-सौदामिनी**—स्व० श्री पं० वागीश्वर वेदालंकार। काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण आदि के समान वैदिक साहित्य पर शास्त्रीय विवेचनात्मकग्रन्थ। साधारण जिल्द ४५-००, बढ़िया जिल्द ५०-००

१४. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—युधिष्ठिर मीमांसक मूल्य ३-००

१५. **वेदसंज्ञा-मीमांसा**—युधिष्ठिर मीमांसक २-००

१६. **वैदिक-छन्दोमीमांसा**—यु० मी०। नया संस्करण २५-००

१७. **वैदिक-स्वर-मीमांसा**—नया संस्करण। यु० मी० ३०-००

१८. **वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन-प्रकार**—यु० मी०। ६-००

१९. **वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय; वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा** (संस्कृत-हिन्दी)—यु० मी०। ६-००

२०. **देवापि और शन्तनु के आख्यात का वास्तविक स्वरूप**—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। मूल्य २-५०

२१. **वेद और निरुक्त**—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। २-५०

२२. **निरुक्तकार और वेद में इतिहास**—,, ,, २-५०

२३. **त्वाष्ट्री सरण्यू की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरूप**—लेखक—श्री पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य। मूल्य २-५०

२४. **वैदिक-जीवन**—श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर वैदिक-जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००।

२५. **शिवशङ्करीय-लघुग्रन्थ पञ्चक**—इसमें श्री पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ लिखित वेदविषयक चतुर्दश-भुवन, वसिष्ठ-नन्दिनी, वैदिक विज्ञान, वैदिक-सिद्धान्त और ईश्वरीय पुस्तक कौन? नाम के पांच विशिष्ट निबन्ध हैं। मूल्य ८-००

२६. **यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा**—ले० पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। बढ़िया जिल्द २५-००, साधारण २०-००।

२७. **शतपथ ब्राह्मणस्थ अग्निचयन समीक्षा**—लेखक—पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। मूल्य ४५-००

२८. **वैदिक-गृहस्थाश्रम**—श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। विना जिल्द २६-००; सजिल्द ३०-०० ।

२९. **ऋग्वेदपरिचय**—श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड। ऋग्वेद परिचयात्मक अद्भुत ग्रन्थ छप रहा है। शीघ्र तैयार होगा। मूल्य विना जिल्द १२-००; सजिल्द १६-०० ।

३०. **वैदिक-पीयूष-धारा**—लेखक—श्री देवेन्द्रकुमार जी कपूर। चुने हुए ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थपूर्वक विस्तृत व्याख्या, अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त। उत्तम जिल्द १५-००; साधारण १०-००

३१. **क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है?** लेखक—श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री। मूल्य १२-००

३२. **उरु-ज्योति**—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याय योग्य निबन्धों का संग्रह। सुन्दर छपाई। पक्की जिल्द १८-०० ।

३३. **वेदों की प्रामाणिकता**—डा० श्रीनिवास शास्त्री। १-५०

३४. **ANTHOLOGY OF VEDIC HYMNS**—Swami Bhumananda Sarasvati. ६०-००

कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थ

३५. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्**—(दर्शपूर्णमास प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायणकृत भाष्य सहित (संस्कृत)। ४५-००

३६. **दर्शपूर्णमास-पद्धति**—पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित। २५-००

३७. **कात्यायनगृह्यसूत्रम्**—(मूलमात्र) अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम बार छापा है। २५-००

३८. **श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्**—(संस्कृत) अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। सजिल्द ४०-००

३९. **संस्कार-विधि**—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र १५-००, राज-संस्करण २०-००। सस्ता संस्करण ६-००, अच्छा कागज सजिल्द ८-०० ।

४०. **वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश**—पं० बालाजी विट्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे गये ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद। इसी का गुजराती अनुवाद संशोधित संस्कार-विधि का आधार बना। २०-००

४१. अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौत यज्ञों का संक्षिप्त परिचय—इस ग्रन्थ में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचिति सहित सोमयाग, चातुर्मास्य और वाजपेय आदि यागों का वर्णन है। (दोनों भाग एकत्र) मूल्य १२-००

४२. संस्कार-विधि-मण्डनम्—संस्कार-विधि की व्याख्या। लेखक—वैद्य श्री रामगोपाल जी शास्त्री। अजिल्द १२-००; सजिल्द १६-००

४३. वैदिक-नित्यकर्म-विधि—सन्ध्यादि पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों की पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित। यु० मी० मूल्य ४-००, सजिल्द ६-०० ।

४४. वैदिक-नित्यकर्म-विधि—(मूलमात्र) सन्ध्या तथा स्वस्तिवाचनादि बृहद् हवन के मन्त्रों सहित। मूल्य १-००

४५. पञ्चमहायज्ञ-प्रदीप—श्री पं० मदन मोहन विद्यासागर। ५-००

४६. हवनमन्त्र—स्वस्तिवाचनादि सहित। ०-६०

४७. सन्ध्योपासनविधि—भाषार्थ सहित। अप्राप्य

४८. सन्ध्योपासन-विधि—भाषार्थ तथा दैनिक यज्ञ सहित। अप्राप्य

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण-ज्योतिष विषयक ग्रन्थ

४९. वर्णोच्चारण-शिक्षा—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या ०-७५

५०. शिक्षासूत्राणि—आपिशल-पाणिनीय-चान्द्रशिक्षा-सूत्र। मू० ७-००

५१. शिक्षाशास्त्रम्—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। १०-००

५२. अरबी-शिक्षाशास्त्रम्—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। १०-००

५३. शिक्षा महाभाष्यम्—(संस्कृत) जगदीशाचार्य विरचित। मूल्य १२-००; सजिल्द १५-०० ।

५४. वृद्धशिक्षा-शास्त्रम्—,, ,, ,,। १५-००; सजिल्द २०-००

५५. निरुक्त-भाष्य—श्री पं० भगवद्दत्त कृत नैरुक्त=आधिदैविक प्रक्रियानुसारी तथा पाश्चात्त्यमत खण्डन सहित। अप्राप्य

५६. निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित। एक मात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित। आरम्भ में उपोद्घात रूप में निरुक्त-शास्त्र विषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया है (संस्कृत) सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधि उत्तम कागज, शुद्ध छपाई तथा सुन्दर जिल्द सहित। मूल्य १२५-००

५७. **निरुक्त-समुच्चय**—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत)। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य २०-००

५८. **अष्टाध्यायी**—(मूल) शुद्ध संस्करण। ४-००

५९. **अष्टाध्यायी-परिशिष्ट**—सूत्रों के पाठ-भेद, सूत्र-सूची **अप्राप्य**

६०. **अष्टाध्यायी-भाष्य**—(संस्कृत तथा हिन्दी)—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। भाग—I ५०-००, भाग—II ३०-००, भाग—III ३५-००

६१. **धातुपाठ**—धात्वादिसूची सहित, शुद्ध संस्करण। ३-५०

६२. **क्षीरतरङ्गिणी**—क्षीरस्वामीकृत। पाणिनीय धातुपाठ की सब से प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याख्या। सजिल्द ६०-००।

६३. **धातुप्रदीप**—मैत्रेयरक्षित विरचित पाणिनीय धातुपाठ की व्याख्या। सजिल्द ४०-००।

६४. **वामनीयं लिङ्गानुशासनम्**—स्वोपज्ञव्याख्यासहितम् १०-००

६५. **संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—लेखक—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। पहला भाग १५-००, दूसरा भाग छप रहा है।

६६ The Tested Easiest Method of Learning and Teaching Sanskrit (First Book)—यह पुस्तक श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत '**विना रटे संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**' भाग १ का अंग्रेजी अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण में प्रवेश करने वालों के लिये यह आधिकारिक पुस्तक है। कागज और छपाई सुन्दर, सजिल्द २५-००।

६७. **महाभाष्य**- हिन्दी व्याख्या—(द्वितीय अध्याय पर्यन्त) यु० मी० भाग—I ६०-००, भाग—II **अप्राप्य**, भाग—III ३०-००।

६८. **उणादिकोष**—ऋ० द० स० कृत व्याख्या तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों, एवं ११ सूचियों सहित। सजिल्द १५-००

६९. **दैवम् पुरुषकारवार्त्तिकोपेतम्**—लीलाशुकमुनि कृत। १२-००

७०. **लिट् और लुङ् लकार की रूप-बोधक सरलविधि**— ४-००

७१. **भागवृत्तिसंकलनम्**—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति। ८-००

७२. **काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्**—संस्कृतरूपान्तर। यु० मी० २०-००

७३. **काशकृत्स्न-व्याकरणम्**—संपादक यु० मी०। १०-००

७४. **शब्दरूपावली**—विना रटे शब्दरूपों का ज्ञान कराने वाली ३-५०

७५. **संस्कृत-धातुकोश**—पाणिनीय धातुओं का हिन्दी में अर्थ निर्देश। सं०—युधिष्ठिर मीमांसक। १२-००

७६. **अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः**—डा० विजयपाल विरचित पी० एच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध (संस्कृत)। सुन्दर छपाई, उत्तम कागज, बढ़िया जिल्द सहित। मूल्य ५०-००

अध्यात्म-विषयक ग्रन्थ

७७. **ईश-केन-कठ-उपनिषद्**—श्री वैद्य रामगोपाल शास्त्री कृत हिन्दी अंग्रेजी व्याख्या सहित। मूल्य ईशो० १-५०; केनो० १-५०; कठो० ३-५०

७८. **तत्त्वमसि अथवा अद्वैत मीमांसा**—लेखक—श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती विरचित ईश्वर जीव और प्रकृति रूप तीनों मूल तत्त्वों का प्रतिपादन करने हारा दार्शनिक ग्रन्थ। मूल्य ४०-००

७९. **ध्यानयोग प्रकाश**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगविद्या के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द कृत। बढ़िया पक्की जिल्द, मूल्य १६-००।

८०. **अनासक्तियोग**—लेखक पं० जगन्नाथ पथिक। अप्राप्य

८१. **आर्याभिविनय (हिन्दी)**—स्वामी दयानन्द। गुटका सजिल्द ४-५०

८२. Aryabhivinaya—English translation and notes (स्वामी भूमानन्द) दोरङ्गी छपाई। सजिल्द १०-००

८३. **वैदिक ईश्वरोपासना।** मूल्य १-५०

८४. **विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम्**—(सत्यभाष्य-सहितम्)—पं० सत्यदेव वासिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य (४ भाग)। प्रति भाग २०-००

८५. **श्रीमद्भगवद्-गीता-भाष्यम्**—पं० तुलसीराम स्वामी ८-००

८६. **अगम्यपन्थ के यात्री को आत्मदर्शन**—चंचल बहिन। ४-००

८७. **मानवता की ओर**—श्री शान्तिस्वरूप कपूर के विविध विचारोत्तेजक सरल भाषा में लिखे गये लेखों का संग्रह। ५-००

नीतिशास्त्र-इतिहास-विषयक ग्रन्थ

८८. **वाल्मीकि रामायण**—श्री पं० अखिलानन्द जी कृत हिन्दी अनुवाद सहित। सुन्दर काण्ड २०-०० युद्ध काण्ड १२-००

८९. **शुक्रनीतिसार**—व्याख्याकार श्री स्वा० जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती। विस्तृत विषय-सूची तथा श्लोक-सूची सहित। उत्तम कागज, सुन्दर छपाई तथा जिल्द सहित। मूल्य ५०-००

९०. **विदुर-नीति**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत प्रतिपद पदार्थ और व्याख्या सहित। बढ़िया कागज, पक्की सुन्दर जिल्द। मूल्य ४०-००

९१. **सत्याग्रह-नीति-काव्य**—आ० स० सत्याग्रह १९३९ ई० में हैदराबाद जेल में पं० सत्यदेव वासिष्ठ द्वारा विरचित। हिन्दी व्याख्या सहित। मूल्य १०-०० नया संस्करण बढ़िया जिल्द ३०-००

९२. **संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास**—युधिष्ठिर मीमांसक कृत नया परिष्कृत परिवर्धित संस्करण। तीनों भागों का मूल्य १२५-००

९३. **संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि**—लेखक—डा० कपिलदेव शास्त्री एम० ए०। सजिल्द २०-००

९४. **ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन**—इस बार इसमें ऋषि दयानन्द के अनेक नये उपलब्ध पत्र और विज्ञापन संगृहीत किये गये हैं। इस बार यह संग्रह चार भागों में छपा है। प्रथम दो भागों में ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन आदि संगृहीत हैं। तीसरे और चौथे भाग में विविध व्यक्तियों द्वारा ऋ० द० को भेजे गये पत्रों का संग्रह है।

प्रत्येक भाग मूल्य ३५-००

९५. **विरजानन्दप्रकाश**—लेखक—पं० भीमसेन शास्त्री एम० ए०। नया परिवर्धित और शुद्ध संस्करण। मूल्य ४-००

९६. **ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म चरित**—सम्पादक पं० भगवद्दत्त। मूल्य २-५०

दर्शन-आयुर्वेद-विषयक ग्रन्थ

९७. **मीमांसा-शाबर-भाष्य**—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याकार—युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग ५०-००; द्वितीय भाग ४०-००; तृतीय भाग ५०-००; चौथा भाग ४०-००; पांचवां भाग ५०-००।

९८. **मीमांसा-शाबर-भाष्यम्**—सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक विविध टिप्पणियों एवं परिशिष्टों के साथ तीन भागों में। प्रथम भाग छप रहा है।

९९. **नाडी-तत्त्वदर्शनम्**—पं० सत्यदेव जी वासिष्ठ। मूल्य ३५-००

१००. **चिकित्सा आलोक**—श्री कृष्णदेव चैतन्य पाराशर। १५-००

१०१. **षट्कर्मशास्त्रम्**—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। अजिल्द १०-००

१०२. **परमाणु-दर्शनम्**—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। अजिल्द १०-००

प्रकीर्ण-ग्रन्थ

१०३. **सत्यार्थप्रकाश**— (आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण) १३ परिशिष्ट, ३५०० टिप्पणियां तथा सन् १८७५ के प्रथम संस्क० के विशिष्ट उद्धरणों सहित। राज संस्क० ४०-००, साधारण संस्क० ३५-०० ।

१०४. **दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह**—१४ ग्रन्थ, सटिप्पण, अनेक परिशिष्टों के सहित। मूल्य ४०-००

१०५. **भागवत-खण्डनम्**—ऋ० द० की प्रथमकृति । अनुवादक—युधिष्ठिर मीमांसक ४-००

१०६. **ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन**—इसमें पौराणिक विद्वानों तथा ईसाई मुसलमानों के साथ हुए ऋ० द० के शास्त्रार्थ तथा पूना में सन् १८७५ तथा बम्बई में सन् १८८२ में दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है। उत्तम कागज, कपड़े की जिल्द। मूल्य ३५-००

१०७. **दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह**—सस्ता संस्करण। मूल्य १२-००

१०८. **दयानन्द-प्रवचन-संग्रह**—(पूना-बम्बई प्रवचन)। १२-००

१०९. **ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। नया परिशोधित परिवर्धित संस्करण। ४०-००

११०. **व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्द कृत। ३-००

१११. **आर्योद्देश्यरत्नमाला**—ऋषि दयानन्द कृत। ०-६०

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

बहालगढ़ जिला सोनीपत (हरयाणा) १३१०२१

रामलाल कपूर एण्ड संस, २५९६ नई सड़क, दिल्ली।